

ईशोपनिषद् के ऊपर श्री अरविन्द

की व्याख्या का समीक्षात्मक अध्ययन

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की एम० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

लघु शोध-प्रबन्ध



निर्देशक :
प्रोफेसर एस. पी. सिंह

शोधकर्त्री :
(बीमसी) उर्मिला देवी

संस्कृत - विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़
१९८८



DS1417

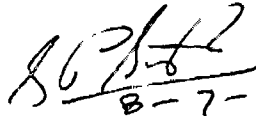


III

Department of Sanskrit,
Aligarh Muslim University
Aligarh.
Dated 8.7.1988.

CERTIFICATE

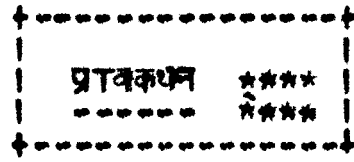
I hereby certify that the present dissertation is the product of Mrs. Urmila Devi's own research work and that it is worthy of being supplicated for M.Phil in Sanskrit.


8-7-88
(Prof. S.P. Singh)

Supervisor. &

Chairman,
Department of Sanskrit
A.M.U. Aligarh.

CHAIRMAN
Department of Sanskrit
Aligarh Muslim University
ALIGARH



न जाने क्यों आरम्भ से ही दर्शन मेरी स्वि का केन्द्र रह चुका है । दर्शन के प्रति स्थान होने के परिणाम स्वल्प ही मैं १९०० (संस्कृत) में 'दर्शन वर्ग (ग)' का चयन किया था । दर्शन के प्रति इस औत्तरिक स्थान ने ही समय उपस्थित होने पर मुझे उपनिषद् साहित्य पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया । ईशोपनिषद् पर श्री अरविन्द को व्याख्याओं का समीक्षात्मक अध्ययन' यह लघुशोध प्रबन्ध का विषय है ।

यद्यपि ईशोपनिषद् पर पूर्व में ही अनेक भाष्य एवं टीकाएँ उपलब्ध हैं । उपनिषद्, संहिता का ही अन्तिम भाग होने के कारण संहिता पर लिखे गये भाष्य तथा टीकाएँ भी मिलती हैं । प्राचीन भाष्यों में उपनिषदों पर शंकरभाष्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । उनके बाद के टीकाकारों ने तो अधिकांशतः उनका ही अनुगमन किया है । परन्तु श्री अरविन्द ने ईशोपनिषद् के मन्त्रों की जो व्याख्या की है, वह शंकरभाष्य से नितान्त भिन्न है । उनका दृष्टिकोण अत्यन्त तार्किक है । इन दोनों विद्वानों द्वारा की गई व्याख्याओं के आधार पर कौन उपनिषद् के अधिक निकट है ? यह औचित्य निर्धारित करना ही इस लघुशोध प्रबन्ध की प्रमुख समस्या है ।

श्री अरविन्द के उपरान्त भी अन्य कुछ पारवात्य तथा भारतीय विद्वानों ने भी ईशोपनिषद् पर कार्य किया है, जिनमें राधाकृष्णन् मैक्समूलर की ध, ड्यूसन, विनोबा भावे, रानाडे, गजेन्द्र गड़कर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । इनमें से पारवात्य विचारकों ने तो भारतीय दर्शन के रहस्य तथा उपनिषदों के सिद्धान्तों को नगण्य करके भाषानुवाद पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है ।

भारतीय विद्वानों में से बहुतों ने शंकर भाष्य का ही या तो हिन्दी अनुवाद किया है अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने शब्दों में शंकर सम्मत मतों को ही परिपुष्ट किया है । राधाकृष्णन् भी यत्र तत्र श्री अरविन्द

से ही साम्य रखते हैं। श्री गजेन्द्र गडकर ने तो अपने ग्रन्थ में मात्र अन्य दार्शनिकों के विचारों तथा टीकाओं का संग्रह किया है। उन्होंने कहीं भी अपने किसी सिद्धान्त अथवा विशिष्ट विचार का उल्लेख नहीं किया, और नहीं किसी विद्वान के साथ अपनी सहमति अथवा असहमति हो व्यक्त की है।

प्रस्तुत तपुशोध प्रबन्ध का मूल-उद्देश्य तो उपनिषद् की मूल भावना के अनुसार आचार्य शंकर तथा श्री अरविन्द द्वारा की गई व्याख्याओं का औचित्य निर्धारित करना है। सर्वप्रथम इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में इस उपनिषद् के प्रमुख सिद्धान्त 'ज्ञान और कर्म का समुच्चय' के सम्बन्ध में बर्णन की गई है। इस विषय में दोनों विद्वान एक दूसरे के ठीक विपरीत हैं। आचार्य शंकर कर्म और ज्ञान के विरोध को 'पर्वतवदकम्प्य' तथा श्री अरविन्द कर्म को ज्ञान की पूर्वविस्था अथवा सम्पूरक स्थिति मानते हैं। यही इन दोनों विद्वानों के सिद्धान्त का प्रमुख भेद है। इस विषय में श्री अरविन्द के प्रबल तर्कों तथा उपनिषद् के प्रति अनुकूल विचारों एवं सिद्धान्तों ने आदि गुरु शंकर के 'कर्मविरोधी' सिद्धान्त को छिन्न-भिन्न कर दिया है।

द्वितीय अध्याय में ब्रह्म का स्वल्प सम्बन्धी विचार विवेचन है। यद्यपि ब्रह्म का कोई मूर्त स्वल्प नहीं है, जिसका वर्णन किया जा सके। फिर भी उसका स्वल्प अगणित रूपों में व्याख्यापित किया गया है।

ईशोपनिषद् में अल्पाध्ययन सामग्री के कारण तीन या चार मन्त्रों में ब्रह्म सम्बन्धी संकेत मिलता है, जिनमें उसके स्वल्प के बारे में किञ्चित् बर्णन की गई है। इन संकेत शब्दों की व्याख्याओं में आचार्य शंकर तथा श्री अरविन्द के बीच मत वैभिन्य को प्रमाण सहित इस तपुशोध प्रबन्ध में उल्लिखित किया गया है। आचार्य शंकर 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' के परोक्ष है, परन्तु उपनिषद् सामग्री की अल्पता के कारण उनके सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए उनके ग्रन्थ विवेक-बुद्धामणि से भी यथासम्भव उद्धरण दिये गये हैं। साथ ही श्री अरविन्द के सिद्धान्त 'ब्रह्म की अतैकात्मकाभिव्यक्ति जगत् है।' का साम्य उपनिषद् से होने के कारण उनके अग्रेसरी ग्रन्थ का अनुवाद भी यथास्थान इस तपुशोध प्रबन्ध में किया गया है।

तृतीय अध्याय में कर्म और ज्ञान के सम्यक समुच्चय से जो पुत्र इस संसार सागर से उच्छेद करके, ब्रह्म ज्ञान स्वी अमृत के रस का पान कर चुका है ऐसे जीवन्मुक्त की विभिन्न (सामाजिक-मानसिक) स्थितियों की चर्चा की गई है। यद्यपि जीवन्मुक्त को अनिर्वचनीय होने के कारण शब्द सीमा में नहीं बांधा जा सकता है फिर भी दृष्टा श्रुतियों द्वारा अनुभूत विचारों के माध्यम से उसका व्यवहार किस प्रकार अन्य अज्ञानियों से भिन्न हो जाता है ? यह बताया गया है। इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए 'श्री मद् भगवद् गीता' के 'स्थितप्रज्ञ' तथा आचार्य शंकर के ग्रन्थ विवैक-चूड़ामणि में विवेचित 'ब्रह्मलीन' की स्थितियों का भी उल्लेख किया गया है।

चतुर्थ अध्याय उपनिषद् का निष्कर्ष रूप है। इसमें जीव, जगत् और ईश्वर इन तीन मूल सत्ताओं के स्वल्प तथा सम्बन्ध का विवेचन किया गया है। इनका पृथक्त्व, एकत्व दोनों ही पहलुओं को प्रमाणाँ सहित बताया गया है। विभिन्न विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए उपनिषद् प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार ही इनकी व्याख्या की गई है। यद्यपि उपनिषद् में पृथक्त्व स्पष्ट रूप से इन तीन तत्त्वों के विषय में कोई विशिष्ट विवेचन नहीं है, फिर भी तालमेल, के द्वारा व्यवहार में तीनों के पृथक् दर्शन की तथा मूलतः एकत्व के सिद्धान्त को परिपुष्ट किया गया है। श्री अरविन्द तथा आचार्य शंकर के विचारों को भी यथास्थान विवेचित किया गया है। पृथक् रूप से आचार्य शंकर की बात के स्पष्टीकरण हेतु उनके ग्रन्थ विवैक चूड़ामणि की सहायता ली गई है।

पंचम अध्याय में एक ऐसे विवादास्पद शब्द के अर्थों की और संकेत किया गया है, जिसका सम्बन्ध ईशोपनिषद् से हो नहीं, अपितु समग्र वैदिक साहित्य से है। इस उपनिषद् के तृतीय मन्त्र 'असुर्या' नाम के लोका में आये 'असुर्या' का भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ किया है। ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्रों अर्थात् इस शब्द के प्रमुखित स्थलों के अनुसार उपलब्ध अर्थों की समस्या का उल्लेख इस अध्याय में किया गया है। यद्यपि इस तथु शोध प्रबन्ध में विवेचित अर्थों के अतिरिक्त भी अर्थ 'असुर्या' के सम्भव हो सकते हैं। परन्तु विषय सीमा के कारण यहाँ सभी का विवेचन सम्भव नहीं था।

प्रमुख विद्वानों द्वारा मान्य अर्थों का भी उल्लेख करने के उपरान्त उपनिषद् के मूल भाव तथा ऋग्यजुर्वेद मूलक अर्थ की स्थापना की गई है ।

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध को लिखते समय दो वर्ष में मुझे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । गृहस्थ-जीवन के कारण जीवन की कई विशिष्ट घटनाएँ भी मेरे सम्मुख आईं । परन्तु परमश्रद्धेय गुस्वर डा० एस०पी० सिंह जी की अतीव अनुकम्पा और विद्वतापूर्ण निर्देशन के फलस्वरूप मैं स्वीकृत कार्य को पूरा करने में सफल हो सकी । गुस्ताता श्रीमती सिंह का भावी वात्सल्यपूर्ण स्नेह भी मेरे लक्ष्य प्राप्ति में अत्यधिक सहायक रहा ।

श्रद्धेय डा० तेजवीर सिंह चौहान एवं डा० (श्रीमती) रमेश कुमारी सिंह चौहान के प्रेरणादायक सुझाव तथा आदर्श व्यवहार मेरे लिए पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुए । श्रीमती चौहान से मात्र शिक्षा सम्बन्धी सलाह ही नहीं, अपितु जीवन को उचित प्रकार से चलते हुए, कुछ करने की भी प्रेरणा मिली । अतः गुरु हम्पत्ति की मैं विशेष रूप से ऋणी हूँ । प्रो० (कुमारी) पुष्पा हजेलाला जिसके कुछ पलों के सान्निध्य ने ही मुझे अत्यधिक प्रभावित किया, तथा प्रो० एस.एस. जोष और डा० एस०आर० शर्मा की भी मैं आभारी हूँ । जिनके अमूल्य विचारों ने समय-समय पर मुझे लाभान्वित किया है ।

पतिदेव-परम श्रद्धेय श्री कन्हैयालाल जो के सहयोग के कारण ही मैं इस कार्य को सफलता पूर्वक कर सकी, अतः उनके प्रति मैं सदैव नतमस्तक हूँ । टंकणकर्ता ने अपना आवश्यक कार्य बीच में स्थगित करके, अत्यन्त अल्प समय में ही इस लघु शोध प्रबन्ध का टंकण करके इसके पूर्ण होने में सहयोग प्रदान किया । उनके तथा पुस्तकालय सह अध्यक्ष श्री शिवदत्त शर्मा के सहयोग के लिए मैं हृदय से आभारी हूँ । बहिन जयबाता के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ, जिसने उत्पाय होने पर भी मेरी गृहस्थी का बीड़ा उठाकर, मुझे इस कार्य को करने में पूरा सहयोग दिया ।

श्रीमती उर्मिला देवी

प्रारम्भिक
(1) अध्याय प्रथम :-	ज्ञान और कर्म का समुच्चय	1
	
	(1) समर्पण व निष्काम भाव	
	(2) ज्ञान के साधन के रूप में कर्म	
	(3) आचार्य शंकर की कर्ममीमांसा	
	(4) श्री अरविन्द का कर्म सिद्धान्त- कर्म ही मुक्ति का साधन है ।	
	(5) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा	
	(6) विद्या और अविद्या एवं असंभूति- व संभूति का तात्पर्य	
	(7) कर्मशीलता ही जीवन्मुक्ति .	
(2) अध्याय-द्वितीय :-	परमतत्त्व का स्वल्प	21
	
	(1) सर्वव्यापकता	
	(2) सर्वज्ञ	
	(3) विलक्षण	
	(4) स्थित और गतिशील	
	(5) प्रकाश-स्वल्प	
	(6) स्वल्प दर्शनार्थ याचना	
	(7) ब्रह्म की गतिशीलता	
(3) अध्याय-तृतीय :-	ब्रह्मलीन की स्थितियाँ	41
	
	(1) विभिन्न दर्शनों में मोक्ष को अवधारणा	
	(2) वेदान्त एवं गीता	
	(3) विवेक-बूडामणि में जीवन्मुक्त का लक्षण	
	(4) सामाजिक स्थिति	

- (5) वेदान्त सार का जीवन्मुक्त
- (6) जीवन्मुक्त सम्बन्धी शंकाएँ और -
उनका समाधान
- (7) श्री अरविन्द का जीवन्मुक्त तथा -
उसकी समाज में स्थिति
- (8) मानसिकता
- (9) जीवन्मुक्त की कार्यशीलता
- (10) ब्रह्मज्ञान के देहपात की प्रक्रिया .

(4)
अध्यायः चतुर्थ :-

जोष, जगत् और ईश्वर

68

- (1) तीन मूल सत्ताएँ
- (2) तीनों के बीच तालमेल की समस्या
- (3) कर्मपूर्वक ही दीर्घजीवन की संभावना
- (4) कर्म जोष और जगत् के बीच सम्बन्ध-सूत्र
- (5) आत्मोत्थान का महत्त्व
- (6) तीनों का एकीकरण ही परमलक्ष्य

(5) अध्याय-पंचम :-

'असुर्या' शब्दार्थ और धारणा

82

- (1) प्रचलित मत की आलोचना
- (2) असुर का राक्षसवादी अर्थ
- (3) असुर का देवता सम्बन्धी अर्थ
- (4) असुर्या का अर्थ 'क्रेठता'
- (5) श्री अरविन्द प्रतिपादित 'सूर्यरहित' अर्थ
- (6) आचार्य द्वारा अभिमत अर्थ
- (7) दोनों को तुलनात्मक समीक्षा

* अध्याय- प्रथम *

** ज्ञान और कर्म का समुच्चय **

अध्याय- प्रथम

१- ज्ञान और कर्म का समुच्चय

शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि शाखा का अन्तिम वाली सर्वा अध्याय ईशाोपनिषद् कहलाता है। वैदिक परम्परा को छोड़कर (पहले संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और फिर अन्तिम भाग उपनिषद्) यह उपनिषद् सीधे संहिता से ही जुड़ा हुआ है। संहिता से सम्बद्ध होने पर भी इसमें कर्मकाण्ड अथवा यज्ञविधान का तेशा-मात्र भी विवेचन नहीं है। अन्य उपनिषदों की भाँति यह भी उस परमसत्ता का ही विवेचक है, जिसके ज्ञानस्पी रस का मात्र आस्वादन किया जा सकता है। उसे किसी को दिखाया, सुनाया अथवा बताया नहीं जा सकता है।

१-समर्पण-व-निरुक्त-भाव-

इस उपनिषद् की उत्कृष्टता का एक कारण है कि यह कर्म तथा ज्ञान दोनों के सम्यक् समन्वय के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का उपदेश करता है। सम्भवतः दूसरा कोई और उपनिषद् ऐसा नहीं है, जो ज्ञान के साथ-साथ कर्म को भी ब्रह्म-प्राप्ति में आवश्यक मानता हो। परन्तु ईशाोपनिषद् स्पष्ट शब्दों में ज्ञान और कर्म के समन्वय की आवश्यकता को बताता है, तथा कर्म को ज्ञान प्राप्ति की पूर्व स्थिति मानते हुए, उसकी महत्ता पर बल देता है। ईशाोपनिषद् में प्रथम मन्त्र 'ईशावास्यमिदं सर्वं' से ही निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया है। यह समस्त संसार ईश्वर के द्वारा अपनी ठ्यापकता से आवृत है। अतः इसका उपभोग इसके नियामक के प्रति समर्पित होकर करना चाहिए। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' पद का भी यही तात्पर्य है कि उस सत्ता के प्रति त्याग भावना रखकर अर्थात् यह सब चराचर जगत् उसी का है। इसमें कुछ भी स्थायी नहीं है। इस प्रकार की त्याग भावना से इस संसार में जीवन का उपभोग करना चाहिए।

१- ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्प्रा जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् । ।

ईशावास्योपनिषद् - ।

यह त्याग भावना संसार का परित्याग नहीं है, बल्कि एमणाओं का ही त्याग है। तभी तालब आदि एमणा सम्बन्धी विकारों का परित्याग करके संसार का उपभोग ही त्याग है। किसी भी प्रकार के भौतिक सुख, ऐश्वर्यदि में लिप्त नहीं होना चाहिए। उनकी अनावश्यक इच्छा नहीं करनी चाहिये और न मिलने पर दुःख का अनुभव नहीं करना चाहिए। क्योंकि अधिक धन एवं ऐश्वर्यों की कामना करने से व्यक्ति हर सम्भव ढंग से उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करता है, जिससे उसे औचित्य विवेक नहीं रहता। वह निरन्तर इसी चक्रव्यूह में फँसा हुआ, दुःखों का अनुभव करता है।

श्री मद् भागवद् गीता के अनुसार भी 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः' का साम्य 'तेन त्यक्तेन मुञ्जोथा' से है। मनुष्य को बिना फल अथवा परिणाम की इच्छा करते हुए, सबप्रकार उस परमात्मा को समर्पित होकर संसार धर्मों का पालन करना चाहिए। तथा सासारिक सुखों में आसक्त न होकर त्याग पूर्वक आवश्यकतानुसार ही उनका उपभोग करना चाहिए।

2. ज्ञान के साधन के रूप में कर्म :-

द्वितीय मन्त्र 'कुर्त्तुवेह कर्माणि' में तो ज्ञान के साथ-साथ कर्म की भी आवश्यकता ही नहीं, अपितु ज्ञान से पूर्व कर्मों के द्वारा चित्त को ज्ञान प्राप्ति योग्य बनाने की बात कही गई है। मन्त्र के अनुसार इस लोक में कर्म करते हुए ही व्यक्ति को सम्पूर्ण शास्वर्भोय आयु का उपभोग करने की कामना करनी चाहिए, क्योंकि यही एकमात्र ऐसा मार्ग है, जिससे व्यक्ति के क्लेश कर्मों का संस्कार और फलस्वल्प कर्मबन्धन नहीं होता है। ईश्वर को समर्पित होकर त्याग भाव से आश्रम सम्मत संसार धर्मों का पालन कर्म बन्धन का हेतु नहीं होता है।

1- कुर्त्तुवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।

एवं त्वमि तान्यपेक्षोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

ईशावास्योपनिषद्- 2 .

समर्पण भाव और आसक्ति से रहित होकर किये गये कर्मों में अहंकार का अभाव होता है। और अहंकार से रहित होकर मनुष्य जब साधारण व्यक्ति से कुछ ऊपर उठकर सर्वभूत हित में कार्य करता है, तो वे निश्चित रूप से पुण्यशाली होते हैं। क्योंकि एषणादि आदि विकार ही व्यक्ति को निकृष्ट कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं।

इसीलिए मंत्र द्वितीय में यह स्पष्ट है कि ऐसा कोई और मार्ग नहीं है, जिससे कर्म करने पर भी कर्म बंधन न हो। क्योंकि कारण और परिणाम का अटूट सम्बन्ध है। परन्तु निष्काम, समर्पित भाव से किये गये कर्म, कर्मबंधन आधायक नहीं होते हैं। आसक्ति रहित भाव से सम्पादित कर्म लोकोपकारी और पुण्य देने वाले होते हैं। तथा कर्त्ता के चित पर भी अप्रभावी होते हैं। अहंकार रहित चित्त वाले व्यक्ति को किसी भी प्रकार के संसारी विकार उद्दिग्ध नहीं करते हैं।

निर्मल चित्त और शान्त वृत्तियों वाले अन्तःकरण में ही ज्ञान का उचित प्रभाव होता है। यदि चित्तवृत्तियाँ समाप्त नहीं हुई हैं, तो ऐसे पुरुष का ज्ञान कुपात्र ऋ में डाली गई विद्या के समान नष्ट प्रायः हो जाता है। अतः उपनिषद् अनुसार सब कुछ उस परमात्मा को समर्पित करके, आसक्ति रहित भाव से, एषणाओं का त्याग करके, कर्म करते (आत्म सम्मत धर्मों का निर्वह करते) हुए, मनुष्य सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। फिर भी ऐसे मनुष्य को कर्म लेश नहीं होता है। यही इस उपनिषद् का मूल सिद्धान्त है। परन्तु इन दो मन्त्रों की व्याख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। दूसरे शास्त्रों में, यही उपनिषद् के मूल सिद्धान्त का भी अन्य उपनिषदों के सिद्धान्त से भिन्न है। कोई विद्वान् कर्म का अर्थ अग्निहोत्रादि मानकर कर्म की अवहेलना करते हैं, तो अन्य उपनिषद् की मूल भावना के अनुसार कर्म की स्थापना करते हैं।

3. आचार्य शंकर की कर्म मीमांसा -

शंकराचार्य ने इन मन्त्रों का जो अर्थ किया है, वह उपनिषद् सिद्धान्त के अनुकूल नहीं बैठता है। शंकर ज्ञान के पक्षधर और कर्म के नितान्त विरोधी है। वे इनका विरोध 'पर्वत्वदविचल' मानते हैं। किसी भी रूप में कर्म को वे ज्ञान के साध नहीं जोड़ना चाहते हैं। वे किसी भी प्रकार के कर्म को ज्ञान के मार्ग में बाधक मानते हैं। और इस ईशापनिषदि का अर्थ करते समय कर्म के स्थान पर अग्निहोत्रादि कर्म मानकर, ज्ञानकाण्ड कहे जाने वाले उपनिषद् को कर्मकाण्ड के साध जोड़ देते हैं। उनके अनुसार ब्रह्मप्राप्ति करने वाले मनुष्य को तो मात्र जंगल में 'ब्रह्मसत्यं-जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। तथा मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले मनुष्य को अग्निहोत्रादि आदि कर्मों को करते हुए ही आयु का उपभोग करना चाहिए, जिससे कर्म का लेप नहीं होता। परन्तु यही इस मन्त्र की व्याख्या में वे स्वयं ही अपने सिद्धान्त में उलझ कर रह जाते हैं। उनके अनुसार एक और तो मात्र कोई भी कर्म करने से कर्म संस्कार और फिर बंधन होता है। दूसरी ओर अग्निहोत्रादि आदि कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करने वाला दयत्रित कर्मबंधन में नहीं पड़ता है।

'कुर्वन्नेवेह कर्मणि...' इस मन्त्र में आये कर्मणि और कर्म शब्दों का उन्होंने विपरीत अर्थ किया है। पूर्व पद में आये हुए कर्मणि का तात्पर्य वे अग्निहोत्रादि यज्ञ कर्म बताते हैं।

1- नरमात्राभिमानिनी त एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्मणि कुर्वतो वर्तमानात्प्रकारादन्यथ । प्रकारान्तरं नास्ति, येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते कर्मणा न लिप्यत इत्यर्थः ।

शंकर भाष्य, ईशावास्योपनिषद्- 2 .

और चतुर्थ पद¹ में आये कर्म शब्द को ठयाहुया उसके विपरीतार्थ 'बुरे कर्म' करते हैं, जो कि निम्बिद्ध है। इस प्रकार वे इस मन्त्र के एक ही शब्द के दो रूपों की बड़ी छौंवातानी करते हैं कि अग्निहोत्रादि वेद विहित कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जोनों की इच्छा करने वाले मनुष्य के कर्म लेप नहीं होगा। यह बात बिल्कुल समझ में नहीं आती है कि जब कर्म और ज्ञान का विरोध अवतल है, तो फिर कर्म करने से कर्म संस्कार और कर्म का बंधन कैसे नहीं होगा? अग्निहोत्रादि भी तो कर्म ही है, जिन्हें यजमान अपनी अभीष्ट पूर्ति के लिए करता है।

यज्ञ तो किसी न किसी इच्छा की पूर्ति के लिए ही किये जाते हैं। अतः वे तो आवश्यक रूप से फलदायी होते हैं। जिससे व्यक्तित्व फिर कारण और फल के झमेले में फँस जाता है।

यज्ञ में तो निश्चित मन्त्रों के द्वारा किसी देवता का आह्वान करके अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए उसे हविष्य प्रदान की जाती है, फल-स्वरूप देवता यजमान की कामना पूर्ति कर देता है। यह तो दो व्यक्तियों के बीच का एक व्यवहार है, जिसमें मनुष्य ने आह्वान किया, हविष्य दो, और ग्रहणाकर्ता देवता ने उसकी इच्छा पूर्ति कर दी। इसमें कर्म लेप न होने वाली तो कोई बात ही नहीं जिस प्रकार अन्य सांसारिक कर्मों के फल होते हैं, उसी प्रकार से यज्ञादि के भी फल होते हैं। जब किसी कार्य का परिणाम होता है, तो निश्चित है कि उसके संस्कार होंगे। इस प्रकार जब यज्ञादि के निश्चित परिणाम और फल होते हैं, तो उनके संस्कार भी अवश्य होंगे, और कर्म बंधन भी अवश्यमेव होगा।

वैसे भी यज्ञों में तो हिंसा भी होती है । पशु-पक्षियों की बलि दी जाती है । क्या बलि हिंसा नहीं है ? भले ही यह कहा जाये 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति ।' परन्तु संसार में जीव हत्या से तो कोई निकूट पाप कर्म ही नहीं । इसका प्रभाव तो व्यक्ति के सामाजिक जीवन पर भी पड़ता है, फिर भला इसके संस्कार क्यों नहीं होंगे ? और जब संस्कार होंगे, तो उसके लिए निधारित यौनि में पड़कर उसका फल भी भोगना पड़ेगा । फिर कैसे यह माना जाये ? कि जो मनुष्य तप करने योग्य नहीं हैं, वे अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए, यदि सौ वर्ष तक जोनै की इच्छा करें, तो वे भवसागर के चक्रग्रह में नहीं पड़ेंगे और उनकी कर्मबंधन नहीं होगा ।

आचार्य शंकर द्वारा की गई इस मन्त्र की व्याख्या से तो स्वयं उनके सिद्धान्त पर हो कूटाराघात होता है । एक ओर तो ज्ञान और कर्म का विरोध पर्वत के समान अचल है, अटल है, उसका परिहार नहीं किया जा सकता । परन्तु दूसरी ओर जो व्यक्ति ज्ञान प्राप्ति में अक्षम हैं, वे यदि अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जोषित रहने की कामना करें, तो वे कर्मबंधन में नहीं पड़ेंगे ।

एक ओर तो आचार्य शंकर अग्निहोत्रादि आदि कर्म करने का उपदेश करते हैं, तथा दूसरी ओर बृहदारण्यकोपनिषद् में एक स्थान पर स्वयं ही देवताज्ञानी की स्थिति बताते हैं कि ब्रह्म ज्ञान से रहित देवता आदि की उपासना करने वाला दैत का भाव मन में रखकर ही स्तुति, नमस्कार, यज्ञ, बलि, उपहार आदि क्रियाएँ करता है । वह इस प्रकार देवता की उपासना करता है, जैसे उपकृत श्रेणी अपना बदला चुकाता है । उस अज्ञानी की स्थिति देवताओं के लिए उसी प्रकार की होती है, जैसी समाज में मनुष्यों के लिए गाय, बैल आदि पशुओं की होती है । मनुष्य उनसे दोहन, वाहन आदि कार्यों को करने के बदले में उनकी क्षुधा-पिपासा का ध्यान रखता है । उसी प्रकार वह यज्ञादि अनेकों उपकारों के कारण एक-एक देवादि का उपभोग्य होने से पशु

ही है । अतः वह पशु के समान सब प्रकार के फल देने का अधिकारी है ।¹

इस पशु की स्थिति में भी वे यह मानते हैं, कि व्यक्ति सौ वर्ष जीने की इच्छा करे । तथा इस प्रकार कर्म करने से उसे अशुभ कर्म लेप नहीं होगा । ये देवता मनुष्यों को आत्मतत्त्व दर्शन के मार्ग में जाने से अवर्द्ध करते हैं । शंकर के अनुसार ही अपने पशुओं के समान यजमान की सब ओर से रक्षा करते हैं । और वे भिन्न-भिन्न प्रकार की विधियों को उत्पन्न करके मनुष्य को आत्मविद्या से वंचित रखते हैं । जिस प्रकार इहलोक में मनुष्य अपने पशुओं को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रताड़ित करके बंधन में रखता है । देवगण अपनी वृत्ति के निर्वह के लिए परतन्त्र मनुष्यों के प्रति अमृतत्वप्राप्ति में विघ्न डालते हैं । 'देवताओं को यह प्रिय नहीं कि मनुष्य आत्म तत्त्व को जाने ।'²

तो क्या आचार्य शंकर की दृष्टि में सामान्य अज्ञानी की तरह पुण्य कर्म में लगे रहते हुए, अपने आश्रय सम्मत कर्मों का निर्वह करके जीवन बिताने की तुलना में पशुवत-किसी के बंधन में रहकर, जीवन व्यतीत करना बेहतर है ? यदि देवता मनुष्य को अपनी स्वार्थवृत्ति के कारण ही आत्म ज्ञान से वंचित रखना चाहते हैं, तो फिर बार-बार ईशाोपनिषद् में अग्नि-होत्रादि कर्म करते हुए अशुभ कर्म लेप न होने की बात क्या रीचकर कहते हैं?

1- कश्चिद्ब्रह्मविद् अन्यामात्मनोऽप्यतिरिक्ता यां कांचिद्देवता ,

उपास्ति अतः पशुश्चि सवर्षेभ्यु कर्मस्वपिकृत इत्यर्थः ।

शंकर भाष्य, बृहदारण्यकोपनिषद्, - 1. 4. 10.

2- देवाः परतन्त्रान्मनुष्यान्प्रत्यमृतत्वप्राप्तिं प्रति विघ्नं कुर्वन्ति ,
तस्मादेवा तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्याविदुः) श्रुति

बृहदारण्यकोपनिषद्, - 1. 4. 10.

समझ में नहीं आता । और देवों का देवत्व कैसा है ? जो मनुष्यों के समान ही ईर्ष्या द्वेष, स्वार्थ, आदि से युक्त हैं । क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार स्वप्नमान के द्वारा ब्रह्मविद्या प्राप्त करने पर उसी प्रकार उन्हें दुःख होता है, जिस प्रकार लौकिक पुत्र को अपना एक पशु चोरी चले जाने पर होता है । इस प्रकार तो साधारण मनुष्य और देवता में कोई भेद नहीं है ।

जहाँ एक ओर आचार्य शंकर द्वारा किया गया इस मन्त्र का अर्थ उनके सिद्धान्त से ही मेल नहीं खाता, वहाँ दूसरी ओर इससे उपनिषद् की मौलिकता भी कम्पित होने लगती है । क्योंकि उपनिषद् प्रथम मन्त्र से ही कर्म की स्थापना करता है, और निष्काम भाव से इस संसार के उपभोग करने का उपदेश करता है । द्वितीय मन्त्र में पूर्णस्वैण कर्म की ज्ञान से पूर्व की अवस्था बताता है तथा मात्र अपने आश्रम-सम्मत कर्मों का सम्पादन करने से ही मनुष्य ज्ञान प्राप्ति के योग्य हो जाता है ।

इस उपनिषद् का मुख्य उपदेश सांसारिक जीवन का सम्पादन करते हुए मनुष्य के लिए मुक्ति मार्ग की प्रशस्त करना है, न कि जंगल में रहकर जप करने वालों की स्तुति भावन करना व उनको जप करने की कला सिखाना । अतः आचार्य शंकर द्वारा की गई व्याख्या से तो इस उपनिषद् की मौलिकता और विशिष्टता (ज्ञान कर्म समुच्चय) दोनों ही नष्ट प्रायः हो जाती है । उपनिषद् के अनुसार कोई भी व्यक्ति ज्ञान प्राप्ति योग्य तभी हो सकता है, जब पहले वह एषणाओं का त्याग करके, पुण्य कर्मों के द्वारा अपने जीवन की आदर्श बनाये, और निर्मल मन से ब्रह्म का चिंतन करें ।

4- श्री अरविन्द का कर्म सिद्धान्त-कर्म ही मुक्ति का साधन है ।

आचार्य शंकर ज्ञान के मार्ग में पुण्य पाप किसी भी कर्म को स्थान नहीं देते हैं, परन्तु इसके विपरीत श्री अरविन्द ने तार्किक तथा मौलिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर कर्म को ब्रह्मप्राप्ति में एक सूत्र की तरह माना है, कि ज्ञान से पूर्व ज्ञान प्राप्ति के लिए उचित पृष्ठभूमि कर्मों के

द्वारा ही तैयार को जा सकती है ।

ईशानोपनिषद् के द्वितीय मन्त्र 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' की व्याख्या इस प्रकार करते हैं, कि कर्म करते हुए, निष्काम भाव से समर्पित होकर, ईश्वर प्रदत्त आयु का आनन्द पूर्वक उपभोग करना चाहिए । एक मात्र यही ऐसा मार्ग है, जिससे (आत्मज्ञान से रहित) व्यक्ति का भी कर्म का बंधन नहीं होता । इस मन्त्र में वे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' पर अधिक जोर देते हैं कि मात्र कर्म करने ही (और किसी उपाय से नहीं) व्यक्ति आयु के अनुसार अपने आश्रम सम्मत कर्मों को करते हुए, जीवन व्यतीत करें, तो ऐसे मनुष्य को भी सांसारिक बन्धनों से मुक्ति मिल सकती है । मुक्ति ही नहीं, बल्कि इस प्रकार से त्यागपूर्वक किये गये पुण्य कर्म उसके ब्रह्मप्राप्ति मार्ग में भी सहायक होते हैं । इस लिए सर्वप्रथम पुण्य कर्मों के द्वारा मनुष्य को अपनी वित्तवृत्तियों को शान्त करके, अन्तःकरण को शुद्ध बनाना चाहिए । और शुद्ध अन्तःकरण में ही ब्रह्म का उपदेश सम्यक् स्पेण ब्रह्म को प्रतिबिम्बित करने में सक्षम होता है ।

संसार धर्मों को विचिन्त करके आश्रितों को दुःखी होड़कर, आश्रम सम्मत कर्मों को छोड़कर, यदि प्रत्येक मनुष्य समाज से पलायन करके जंगल में जाकर ज्ञान प्राप्त करने की कल्पना करें, तो समाज में भी बड़ी भ्यावह स्थिति हो जायेगी । साथ ही आश्रितों की दुःखी भावनाओं से भी तो कर्म संस्कार होंगे । ऐसी स्थिति में कैसे मुक्ति की सम्भावना की जाये ?

1.- Doing verily' works in this world one should wish to live a hundreds years, thus it is in thee and not otherwise then this action cleaves not to a man.

2. Kurvanneva the stress of the word 'Eve' gives therefore 'doing works indeed and not refraining from them.

The upanishads, Sri Aurobindo P.63

ठीक इसी प्रकार की बात राधाकृष्णन कहते हैं । उनके अनुसार मनुष्य को सदैव अपने निर्धारित कर्मों को करते हुए, सब कुछ समर्पित करके, ईश्वर प्रदत्त आयु का उपभोग करना चाहिए । जिससे उसे अपने किये गये कर्मों का बन्धन नहीं होता । बल्कि ऐसे पुण्य-कर्म उसके जीवन को सुखी बनाने के साथ ही, ब्रह्मप्राप्ति में भी सहायक होंगे ।¹

5. दोनों की तुलनात्मक समीक्षा :-

इंकार और श्री अरविन्द के सिद्धान्त में यही मूलभूत अंतर है, कि जहाँ इंकार किसी भी प्रकार, चाहे पुण्य कर्म हो अथवा पाप कर्म को ज्ञान अथवा ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में बाधक मानते हैं, तथा उसका निषेध करते हैं, मात्र तपस्या को ही ज्ञान का माध्यम मानते हैं, वहीं श्री अरविन्द उसे ज्ञान प्राप्ति का एक मात्र मार्ग मानते हैं । उनके अनुसार मनुष्य के लिए कर्म ही एक मात्र ऐसा उपाय है, जिससे सामाजिक जीवन व्यतीत करने वाला साधारण मनुष्य भी मुक्त हो सकता है ।

प्रत्येक मनुष्य की परिस्थितियाँ वन में बैठकर तप करने योग्य नहीं होती है । अतः हृदय से निष्काम भाव होकर, समर्पण पूर्वक, किये गये पुण्य कर्म (किसी दोन दुःखी को सेवा इत्यादि) किसी तप से कम नहीं हैं ।

1- Always performing works here one should wish to live a hundred years. If you live thus a man, there is no other way then it by which Karman (or deed) does not adhere to you.

The Principal Upanishads Radha Krishnan P. 569

इसलिये मनुष्य को अपने आश्रम सम्मत कर्मों को करते हुए, चारों पुरुषार्थों का पालन करते हुए, मोक्ष की कामना करनी चाहिए। ज्ञान प्राप्ति कोई ऐसा मन्त्र नहीं, जिसे पूँजी से ब्रह्म की प्राप्ति हो जायें। उसके लिए भी पुण्य-कर्मों के द्वारा पहले बित्त-वृत्तियों को शांत करके, एमणाओं का त्याग करके, अन्तःकरण को निर्मल बनाना चाहिए। और प्रत्येक कार्य को ईश्वर का आदेश मानकर करना चाहिए। इस प्रकार किये गये कर्म ब्रह्म प्राप्ति में बाधक नहीं, बल्कि सहायक होते हैं।

ब्रह्म की प्राप्ति करने में कर्म ज्ञान प्राप्ति के लिए एक पूर्व अवस्था तैयार करते हैं। परन्तु मात्र कर्म से भी ब्रह्म-प्राप्ति नहीं हो सकती। ब्रह्म-प्राप्ति का मूल कारण तो ज्ञान ही है। भारतीय अथवा पार्श्ववात्य कोई भी दार्शनिक ज्ञान की अवहेलना नहीं कर सकता। प्रसिद्ध विचारक अगस्तीन ने कर्म और ज्ञान को आत्मा की यात्रा के दो भाग माना है, एक के द्वारा हम यात्रा की क्रिया करते हैं, और दूसरे से अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

यह समुच्चय ही इस उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म प्राप्ति का मूल मन्त्र है। सम्भवतः किसी भी अन्य उपनिषद् में कर्म और ज्ञान के समन्वय के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति की बात नहीं कही गई। ईशोपनिषद् के ग्यारहवें मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में पहले कर्म और फिर ज्ञान को महत्ता बताई गई है। तथा समुच्चय के अभाव में दोनों ही स्थितियाँ उत्तम नहीं होती हैं।

|- "Two virtues are set before the soul of man, the one active and other contemplative. The one whereby we journey and other whereby we reach to our journey's end.....

कर्म और ज्ञान दो अलग तत्त्व हैं, एक का सम्बन्ध मनुष्य के शरीर में बसते हुए लौकिक जगत् से, तथा दूसरे का सम्बन्ध बनुष्य के अलौकिक आध्यात्मिक भावों से है। इनका समन्वय किस प्रकार किया जाये ? इस प्रश्न का उत्तर इसी उपनिषद् का ग्यारहवाँ मन्त्र स्वयं ही दे देता है कि अविद्या अर्थात् ज्ञान से भिन्न कर्मदि के द्वारा मृत्यु लोक या संसार चक्र को पार करके, ब्रह्म ज्ञान के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति त्प अमृत का पान करना चाहिए ।¹

6 विद्या और अविद्या एवं संभूति तथा सभूति का तात्पर्य

इस मन्त्र में विद्या और अविद्या शब्दों के अर्थ के बारे में विद्वानों में मतवैभिन्य है। शंकर विद्या का अर्थ देवता ज्ञान तथा अविद्या का तात्पर्य अग्निहोत्रादि यज्ञ कर्म करते हैं। उनके अनुसार देवताओं की पूजा आराधना करने से देवताओं की शक्ति का ज्ञान होता है, जिससे मनुष्य अधिकाधिक सांसारिक सुखों से सम्पन्न होता है। तथा अग्निहोत्रादि आदि कर्म करने से उसे पितृलोक की प्राप्ति होती है।²

1- विद्या वाविद्या च यस्तद्वेदोभय सह ।

अविद्यया मृत्युं तो त्वर् विद्ययामृतमश्नुते ॥

ईशापनिषद्, ॥.

2- अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तो त्वर् अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति ।

शांकरभाष्य ईशापनिषद्, ॥.

परन्तु उपनिषद् का प्रयोजन यज्ञविधान विवेचन न होकर आत्म चिंतन है। अतः आचार्य शंकर ने जो अर्थ विद्या और अविद्या का किया है, वह तो प्रयोजन में व्याप्त होता ही नहीं है। देवता ज्ञान या पितृलोक को प्राप्ति से कोई व्यक्ति मुक्त नहीं हो जाता है। मुक्ति तो आत्म ज्ञान से ही मिलती है। अतः उनका अर्थ निश्चित रूप से उपनिषद् विषय वस्तु के अनुकूल नहीं हैं। साथ ही वे स्वयं भी कर्म सिद्धान्त के विरोधी हैं, पर बार-बार यज्ञ कर्म अग्निहोत्रादि आदि का ही उपदेश करते हैं। जब कर्म मुक्ति में बाधक है, तो न जाने क्यों उन्होंने कर्म करने के लिए वे मनुष्य को प्रेरित करते हैं^१।

इसके विपरीत दूसरी ओर भी अरविन्द विद्या और अविद्या को ब्रह्म की शक्ति माया के ही दो पहलू मानते हैं। ब्रह्म का एकत्व, अखण्डत्व सर्वोच्च सत्ता के रूप में ज्ञान विद्या है। तथा इसके विपरीत संसार रूप में उसको अभिव्यक्ति अज्ञान है, अविद्या है, माया सम्पन्न ब्रह्म की क्रिया है। यही ब्रह्म को अदृश्य करने वाला अज्ञान का हीना पर्दा है, जो ज्ञान के प्रकाश से स्वयंमेव हट जाता है^२। यही भ्रम उत्पन्न करता है, कि संसार की वस्तु मनुष्य के आत्म से भिन्न हैं। द्वैत का भाव इसी के कारण होता है। और ब्रह्म का

1- द्वितीय मन्त्र में भी कर्मणि का अर्थ अग्निहोत्रादि करते हैं।

2- He is Lord of Vidya and avidya, they are the two sides of his self conception (Maya), the twin powers of his energy, (Chit Shakti) Vidya and Avidya the consciousness of unity and the consciousness of multiplicity.

The Upanishads 'Sri Aurobindo P. 105

सर्वत्र अखण्ड रूप से दर्शन करने से यह विद्या अर्थात् ज्ञान हो जाता है ।
और समग्र विश्व उसकी अपनी आत्मा में लीन तथा आत्मा समग्र विश्व में
व्याप्त दृष्टिगोचर होती है । फिर उसे किसी प्रकार का विकार नहीं होता ।

उपनिषद् की विषय वस्तु के अनुसार यही अर्थ अधिक अनुकूल है, क्योंकि
कि उपनिषद् का सिद्धान्त कर्म और ज्ञान, विद्या और अविद्या में सामञ्जस्य
स्थापित करके, ब्रह्म प्राप्ति का उपदेश करता है । अतः पितृलोक और देवता
ज्ञान का तो ब्रह्मप्राप्ति में कोई सामञ्जस्य ही नहीं होता है । श्री अरविन्द
के अनुसार ब्रह्म जब सृष्टि करता है, तो अपनी माया शक्ति से स्वयं को
आवृत्त करके, माया रूपी जाल के मोह पाश से द्वैत का भाव उत्पन्न करके,
मनुष्य को अज्ञानी बना देता है, साथ ही जिस समय ब्रह्म अपने सच्चिदानन्द
स्वस्थ में स्थित होता है, तो सर्वत्र ज्ञान ही ज्ञान, आनन्द ही आनन्द होता है ।

उपनिषद् मत के अनुसार मनुष्य को पहले अज्ञान के द्वारा इस संसार
रूपी भवसागर को पार करके, ज्ञान के द्वारा मुक्ति के लिए अग्रसर होना
चाहिए । अज्ञान से तात्पर्य यह जानना है, कि संसार क्या है ? इसके पीछे
कौन सी नियन्त्रक शक्ति है ? क्या हमारी आत्मा इससे भिन्न है ? अज्ञान
से आच्छादित इन प्रश्नों का हल होने पर मनुष्य स्वयमेव ज्ञान के समीप पहुँच
जाता है । अतः पहले अज्ञान के द्वारा, कर्म के द्वारा, पुण्यों के द्वारा, इस
संसार से त्याग पूर्वक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । तभी अपने लक्ष्य को प्राप्त
किया जा सकता है ।

1.- तत्र को मोहः कः शोकः । ।

इशा उपनिषद्- 7 .

उपनिषद् में इसी समन्वय भाव को सम्भूति और असम्भूति के रूप में भी बताया गया है¹। विद्या और अविद्या के समान सम्भूति और असम्भूति भी ब्रह्म की ही दो अवस्थाएँ हैं। सम्भूति अवस्था ब्रह्म की सृष्टि रचना की अवस्था है। तथा असम्भूति प्रकृतितत्त्व की अवस्था है। आचार्य शंकर सम्भूति को कार्य-ब्रह्म की उपासना तथा असम्भूति को प्रकृतितत्त्व की उपासना कहते हैं। कार्य ब्रह्म, सम्भूति की उपासना से मनुष्य को अणियादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है तथा प्रकृति तत्त्व की उपासना से संसार की विनाश क्रिया का ज्ञान होता है।²

इसके विपरीत श्री अरविन्द के अनुसार सम्भूति और असम्भूति ब्रह्म की माया शक्ति से सम्पन्न और माया शक्ति से रहित दो रूप हैं। सिसृक्षा की अवस्था में माया सम्पन्न ब्रह्म हिरण्यगर्भ अर्थात् कर्मबीज से युक्त होता है। मायावच्छिन्न होने से इस अवस्था में अहंकार भी विद्यमान रहता है। इस अहंकार के नष्ट होते ही, जीव परमात्मा सच्चिदानन्द में स्थित हो जाता है।

अतः मनुष्य को सृष्टि, उत्पत्ति की अवस्था से आरम्भ करके मृत्युपर्यन्त जीवन और संसार के रहस्य को समझना चाहिए। इस रहस्य के समझ जाने पर अज्ञान का आवरण छिन्न-भिन्न हो जाता है। तत्पश्चात् निबीज समाधि

1- सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तो त्वर्हि संभूत्यामृतमश्नुते ।

2- असम्भूतिमव्याकृताख्या प्रकृतिं कारणमविद्या कामकर्मबीजमृतादर्शनात्मिक ।..

संभूत्या कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भेति रताः ... ।

अथवा ब्रह्मत्व की ओर अग्रसर होना चाहिए ।¹ इस प्रकार विद्या और अविद्या के समन्वय से ही ब्रह्म प्राप्ति की लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है ।

इसके विपरीत जो लोग केवल विद्या अथवा असम्भूति और सम्भूति अथवा अविद्या से ही ब्रह्म प्राप्ति की आशा करते हैं । उनकी अज्ञानगति होती है ।² क्योंकि दोनों ही स्थितियाँ उसी परम ब्रह्म को है । अतः दोनों के ज्ञान होने पर ही ब्रह्मज्ञान सम्भव है । क्योंकि एक पक्ष का ज्ञान होने पर एकाकी तथा अधूरा होती है । जिससे व्यक्तित्व और अधिक अधिकार में चला जाता है । इसी बात को उपनिषद् के नवें और बारहवें में बताया गया है ।³

ब्रह्म की दोनों ही स्थितियाँ विद्या तथा अविद्या सम्भूति व असम्भूति का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हैं । दोनों स्थितियों के ज्ञान के भिन्न-भिन्न परिणाम हैं । तथा दोनों के परिणामों के फलस्वरूप ही मुक्ति सम्भव है ।

- 1- Man starts from the troubled state of Birth, he arrives at that tranquil poise of conscious existence liberated from.....
.....Dissolution (Vināśa)

The Upanishads- Sri Aurobindo P. 114.

2- अन्धतमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः (K. 19)

3- अन्धः तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या रताः ।।

- ईशावास्योपनिषद्, 9, 11 .

अविद्या अथवा सम्भूति से इस संसार सागर को पार करके, विद्या-असम्भूति से ब्रह्म रूपी अमृत का पान करना चाहिए इसलिए पहले पुण्य कर्मों के द्वारा चित्त को निर्मल दर्पण के समान करना चाहिए, जिसमें ज्ञान का प्रतिबिम्ब सम्यक् रूपेण पड़ सके ।

7- कर्मशीलता ही जीवन्मुक्ति :-

श्री अरविन्द के अनुसार संसार कुछ और नहीं, अपितु ब्रह्म की ही अनेकात्मक अभिव्यक्ति है । अतः वह ब्रह्म की एक अवस्था ही है, मिथ्या नहीं । सम्भवतः उपनिषद् भाव के अनुसार श्री अरविन्द ही उस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में औचित्य पूर्ण है, कि ज्ञान के साथ साथ ब्रह्म प्राप्ति में कर्म का भी अत्याज्य योगदान है । अतः कर्म भी उस ब्रह्म की एकमात्र उपासना है । क्योंकि संसार रूप में अभिव्यक्त ब्रह्म उसका कर्मशील रूप है । तथा अपने स्वस्व में स्थित रूप ब्रह्म का सच्चिदानन्द स्वस्व है ।

आचार्य शंकर ने द्वितीय मन्त्र को ज्ञान अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति में अक्षम पुत्रों के हितार्थ बताया है । जो व्यक्ति जप-तप आदि नहीं कर सकते । वे अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए आपु का उपभोग करें ।

परन्तु अग्निहोत्रादि यज्ञकर्म करने के विषय में उपनिषद् के अन्य मन्त्रों में कोई भी संकेत नहीं मिलता है । कहीं भी उपनिषद् में ऐसा अभ्यास नहीं होता है, कि व्यक्ति के कल्याण के लिए अग्निहोत्रादि यज्ञकर्म आवश्यक है । अपितु समस्त अठारह मन्त्रों में ब्रह्मज्ञानी की स्थिति का संकेत मिलता है, अज्ञानी सांसारिक का नहीं । प्रथम मन्त्र में ही 'ईशावास्य' कहकर समस्त संसार को ईश्वर रूप तथा कण-कण में ईश्वर का दर्शन करना चाहिए । ऐसी स्थिति तो सिर्फ केवल जीवन्मुक्त व्यक्ति की ही सम्भव है वही आत्मा का परमात्मा से मिलन हो जाने के कारण सर्वत्र आत्मा को ही देखता है ।

द्वितीय मन्त्र में भी जो स्थिति बताई गई है । वह भी सम्भवतः जीवन्मुक्त व्यक्ति की ही स्थिति की ही है । क्योंकि साधारण अज्ञानी पुत्र जब कर्म करता है, तो किसी फल की कामना से करता है । अतः जिस की फल की

कामना से किया जाता है, उस कार्य के कर्म संस्कार होते हैं, और फलस्वरूप उसके फलभोगार्थ पुनर्जन्म होता है। परन्तु मन्त्र के अनुसार कर्म करते हुए, पुरुष यदि सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे, तो भी उसे कर्म लेप नहीं होगा। इतना ही नहीं, अपितु यही एकमात्र ऐसा मार्ग है, जो व्यक्ति को कर्मों के बंधन में नहीं डालता है।

इस प्रकार की स्थिति तो मात्र जीवन्मुक्त की ही होती है, क्योंकि वह समस्त सांसारिक विकारों से परे एकमात्र ब्रह्म हो होता है। अतः यदि वह जीवन्मुक्त की दशा में यदि स्वैच्छा से सौ वर्ष तक जीने की भी इच्छा करे तथा क्रियाशील रहे, तो भी वह कर्मबंधनाधिकारी नहीं होगा। क्योंकि उसके समस्त कर्म ब्रह्मभाव से किये जाते हैं। वह ब्रह्म को समर्पित करके ब्रह्म के आदेश से ही समस्त कार्यों का सम्पादन करता है। ऐसे कर्म समर्पण पूर्वक निष्काम भाव से किये गये होने के कारण बंधनाधायक नहीं होते हैं बल्कि वे उसकी विदेहमुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करने वाले होते हैं। अर्थात् जीवन्मुक्त यदि सौ वर्ष तक कर्म शील रहे। तब भी वह कोई ऐसा कर्म नहीं कर सकता, जिससे उसे कर्मबंधन हो। अर्थात् उसकी विदेहमुक्ति में उसके कर्म किसी प्रकार से भी बाधक नहीं होते हैं।

दोनों प्रथम तथा द्वितीय मन्त्र भी अन्य मन्त्रों को भौति हो जीवन्मुक्त की स्थिति बताते हैं। अतः आचार्य शंकर ने इस मन्त्र को जी अज्ञानी के लिए बताया है, वह अनुवित है। क्योंकि उपनिषद् का यज्ञ कर्म से तो कोई प्रयोजन ही नहीं है। बल्कि उपनिषद् तो ज्ञान के भण्डार है। इसे पाश्चिक विधान बताना, उपनिषद् का अनादर करना है।

1- ईशावास्यामिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत् ।

2- कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा ।

ईशावास्यामिदं, 1, 2 .

उपर्युक्त सभी तथ्यों का सम्यक् अवलोकन करने के उपरान्त निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है, कि ईशाोपनिषद् का मूल सिद्धान्त कर्म और ज्ञान के समुच्चय से ब्रह्म प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना है। उपनिषद् का प्रत्येक मन्त्र इस विषय में कुछ न कुछ संकेत आवश्यक करता है। कहीं 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' से त्याग पूर्वक संसार के उपभोग की बात कही गई है। कहीं कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की, कहीं अविद्या (कर्मों के द्वारा) संसार सागर के उच्छेद की, अन्तिम मन्त्रों के 'कृतं स्मर क्रतो स्मर' से कर्म शीतता को और ही संकेत किया गया है। किसी भी मन्त्र में संसार का परित्याग करके वन में तपस्या करके ब्रह्म प्राप्ति की बात नहीं कही गई। अतः स्थान-स्थान पर आचार्य ईश्वर ने कर्म का जो अर्थ यज्ञादि कर्म किया है, वह अनुचित है।

ईशाोपनिषद् के अनुसार पहले कर्मों के द्वारा अपने चित्त को सांसारिक वृत्तियों से दूर करके, तदुपरान्त ज्ञान के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति की ओर अग्रसर होना चाहिए। इसी बात को उपनिषद् में विद्या तथा अविद्या पदों के द्वारा समझाया गया है। विद्या अविद्या तथा असम्भूति और सम्भूति का तात्पर्य यही क्रमशः ज्ञान और कर्म से है। कर्म का आशय यही सांसारिक जीवन का निर्वाह करने से है, याज्ञिक कर्मों से नहीं।

अध्याय-द्वितीय

परमसत्त्व का स्वल्प

-----+
 अध्याय- द्वितीय | : परमतत्त्व का स्वल्प
 -----+

प्रत्येक उपनिषद् भिन्न-भिन्न उपासना विधियों को बताते हुए उस असोम-अखण्ड सत्ता की विवेचना करता है, जिसे देश और काल की सीमा में देखा अथवा सुना नहीं जा सकता है। वह किसी भी रूप रस गन्ध शरीर आदि से परे है। उसकी प्राप्ति के आनन्द का मात्र अनुभव किया जा सकता है। वाणी द्वारा भी उसे किसी को नहीं बताया जा सकता।

उसके स्वल्प को कल्पना ही की जा सकती है। वह कोई मूर्त वस्तु स्वल्प नहीं है। वेदज्ञ, नित्ययुक्त ऋषियों ने इस ज्ञान आनन्द को स्वयं अनुभव करके लोक कल्याणार्थ जिस प्रकार उपनिषदों में व्यक्त किया है, उसी के आधार पर उसकी कुछ विशिष्टताओं की कल्पना की जाती है।

ईशाोपनिषद् के अठारह मन्त्रों में से तीन-चार मन्त्रों में इस प्रकार के शब्द व पद आये हैं, जिनसे उस परमात्मा के समस्त स्वल्प की ओर कुछ संकेत मिलता है।

1- सर्वव्यापकता-

सर्वप्रथम ईशाोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में आये 'ईशा-वाप्यमिदं' सर्व पद से उस परमात्मा को सर्व-व्यापकता की ओर संकेत किया गया है। वह परमात्मा इस समस्त जड़-चेतन संसार पर आवरण की भाँति छाया हुआ है। वह इस विश्व का शासक है। वही इस जगत् का सृष्टा, पालनकर्ता, हर्ता सब कुछ है। इस जगत् का कण-कण उससे व्याप्त है। सब कुछ उसकी सत्ता के अधीन है। वह समस्त विश्व का अधिपति है।² कोई भी अन्य

1- ईशावाप्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्प्रा जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धमम् ॥ ।

2- स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाम्

राजा 2-5-15-बृहदारण्यकोपनिषद्

सत्ता उससे उच्च अथवा उसके समकक्ष नहीं है ।

उसकी प्रभुता इस मनुष्य लोक पर ही नहीं बल्कि देवलोक पर भी है । देवता भी उसी की शक्ति से शक्तिमान है । केनोपनिषद् के प्रथम छण्ड¹ में ब्रह्म के स्वल्प का वर्णन करते समय बताया गया है कि देवताओं को अपनी शक्तियों पर अभिमान होने लगा ; तो परमात्मा स्वयं परीक्षा लेने के लिए उनकी स्थिति का अवलोकन करने गये तथा उन्हें इस वास्तविकता से परिचित कराया कि परमब्रह्म की शक्ति से ही वायु किसी वस्तु को उड़ा सकती है और अग्नि जला सकती है उस परमात्मा के द्वारा अपनी शक्ति से वंचित कर दिये जाने पर वायु एक तृण को भी उड़ाने में तथा अग्नि जलाने में असमर्थ होती है ।² उस परम-ब्रह्म की शक्ति से ही व्यवस्थित अपना प्रत्येक कार्य करने में समर्थ है ।

ऐतरेयोपनिषद् के तीसरे छण्ड में कहा गया है कि जब ब्रह्म ने इस संसार की रचना करके सब प्रकार पूर्ण कर लिया, तो उस परमात्मा ने विचार किया है, यदि मनुष्य ने मेरे बिना ही सब कार्यों का संचालन कर लिया, तो फिर मेरा क्या उपयोग होगा ? दूसरे-शब्दों में यह पुत्र मेरे बिना (वेतन तत्त्व) इस शरीर को किस प्रकार क्रियाशील बना सकेगा ? यह सोचकर वे ब्रह्मसूत्र को धारकर मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट हो गये । किसी स्थान विशेष अथवा अंग विशेष को उस परमात्मा ने अपना निवास स्थान न बनाकर, समस्त संसार को अपने से सम्पन्न किया ।²

1- केनोपनिषद् छण्ड दो मन्त्र 4 से 12 तक .

2- ऐतरेयोपनिषद्, अध्याय 1 छण्ड 3, 11 व 12 .

स ईक्षतः कथं विसृष्टमथ कोऽहमिति । 11

स एतमेव अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति । 12-

यही बात पाँचवें मन्त्र में कही गई है कि वह परमतत्त्व इस संसार में सबके अन्दर बाहर सर्वत्र विद्यमान है। वह मनुष्य के भीतर विद्यमान है। तथा बाहर के समस्त जड़-वैतन पदार्थों में भी सत्तावान् है। किसी भी स्थान को उस तत्त्व से विद्युत न हो देखा जा सकता। समग्र विश्व उसको प्रभुता के अधीन है। संसार के तृण-तृण, कण-कण पर उसका एक-एक शासन है कोई अन्य सत्ता उसके सम्मुख अस्तित्व नहीं रखती। वह इस जगत् का कारण स्वल्प है। कोई उसका कारण नहीं है।

आठवें मन्त्र में 'पर्यगात्' शब्द भी उस परमब्रह्म की सर्वव्यापक असीम, अनन्त, अछूट सत्ता का द्योतक है। कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह गया हुआ न हो। अर्थात् वह सर्वत्र विद्यमान है। 'परिभूः' शब्द का तात्पर्य भी यही है कि उसकी ही सत्ता सर्वपरि है। उसकी सत्ता के अधीन रहते हुए भी 'मातरिश्वा' वायु प्राणियों के कर्मों को विभक्त करता है। आचार्य शंकर मातरिश्वा को वायु का पर्याय मानते हैं। और 'अपः' शब्द का अर्थ कर्म करते हैं। उनके अनुसार उस परमब्रह्म की सत्ता के अधीन रहकर प्राणियों का प्राणस्वल्प वायु प्राणियों के कैटास्प कर्मों², मेघ, अग्नि, सूर्य के ज्वलन, दहन, प्रकाशन, वर्षादि को विभक्त करता है।

श्री अरविन्द 'मातरिश्वा' को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म अपनी 'मातरिश्वा' नामक शक्ति से सम्पन्न होकर समस्त जलों को स्वयं में स्थापित करता है। अर्थात् जलों को स्थिति ब्रह्म की 'मातरिश्वा' शक्ति सम्पन्न सत्ता के अन्तर्गत हो गई है। परन्तु अपः शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ

1- तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ 5

2- तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्य वैतन्यस्वभावे मातरिश्वा
मातरि अन्तरिक्षे अवयति गच्छतीति

नित्यवैतन्यात्मस्वस्यै सर्वास्पदभूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः ।

ईशावास्योपनिषद्, 4 शंकर भाष्य .

है। अतः सामान्य रूप से यह प्रश्न उठता है, कि जल के लिए एकवचन ही प्रयुक्त होना चाहिए। इसको प्रमाणित करने के लिए वे 'ज्योतीर्षी' का उदाहरण देते हैं, कि जिस प्रकार पृथ्वी पर एक ही अग्नि है, परन्तु फिर भी वेद में अग्नि के लिए 'ज्योतीर्षी' बहुवचन प्रयोग हुआ है क्योंकि संसार में एक ही अग्नि के उत्पत्ति और रूप भेद से अनेक रूप माने गये हैं।

ठीक उसी प्रकार जल भी पृथ्वी पर कई रूपों में ठोस (बर्फ) द्रव (पानी) प्राप्त होता है, तथा उसके स्रोत भी भिन्न-भिन्न हैं जैसे वर्षा का जल, नदी का जल आदि। इसीलिए उपनिषद् में सभी प्रकार से प्राप्त जलों को अभिव्यक्त करने के लिए अपः बहुवचनात्त रूप का प्रयोग किया गया है।

श्री अरविन्द का अपः शब्द की व्याख्या जल करने का सम्भवतः यह भी एक प्रयोजन हो कि संसार में जल ही जीवनाधारक तत्त्व है, सर्वप्रथम सृष्टि के समय उसी की उत्पत्ति हुई। क्योंकि ब्रह्म मात्र सृष्टि करते समय अथवा सिसृक्षा की स्थिति में ही शक्ति से आवृत होकर अपने वास्तविक स्वरूप को सृष्टि रूप में अभिव्यक्त करता है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी कहा गया है कि जिस समय इस संसार में किसी भी प्रकार के जड़ अथवा चेतन की उत्पत्ति नहीं हुई थी। उस समय सर्वत्र पृथ्वी पर जल ही जल था। जल ही पंच तत्वों में प्रथमोत्पन्न है।

-
- 1.- Call him what you like, only realise that 'Matriswan is a force of Brahman, hay, Brahman itself, who in himself setteth the waters to their places.....using the plural "Jyotirsi" lights, splenders, shining things of the various manifestations of 'Agni' so it uses आपः all fluidities.

*The Upanishads: Sri Aurobindo, P. 472.

दूसरी ओर आचार्य शंकर ने अपः का अर्थ कर्म किया है। उनके अनुसार अन्तरिक्षगामी मातृशिव (वायु) ब्रह्म में स्थित होकर ही प्राणिजों की यथा-योग्य शक्ति के वैष्टा त्प कर्मों का विभाजन करता है ।

वस्तुतः कर्मों का विभाजन तो प्राणी के पूर्व जन्म में किये गये कर्मों के आधार पर उसके अनुत्प योनि में जन्म देकर किया जाता है । न कि शक्ति के आधार पर ।

दोनों विद्वानों द्वारा की गई अपः शब्द को व्याख्याओं का सम्यक् अवलोकन करने पर यह कहा जा सकता है, कि अपः शब्द का अर्थ कर्म को अपेक्षा जल ही अधिक तर्क संगत है । साधारणतः भी अपः का तात्पर्य जल ही लिया जाता है । उपनिषदों में अन्यत्र भी कोई ऐसा स्थल नहीं, जहाँ अपः का तात्पर्य कर्म हो । वैदिक तथा तौकिक दोनों ही साहित्यों में अपः का अर्थ जल ही देखा जाता है ।

ब्रह्म तो अनन्त, अछण्ड, असीम, अगोचर, सर्वशक्तिमान है । समस्त सासारिक दैविक कार्यों का सम्पादन उसकी सत्ता के अधीन ही सम्भव है । किन्तु भी पदार्थ अस्वा, स्थान, काल को उसकी प्रभुता से उपर तथा क्षेत्र से परे नहीं देखा जा सकता । वही जगत् का एकमात्र सृष्टा, भर्ता हर्ता है । वह समस्त ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त है । उससे शून्य स्थिति को कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

2. सर्वज्ञ :-

वह आत्म तत्त्व सबका ईशान-कर्त्ता होने के कारण, सबका ज्ञाता भी है । मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है, कि वह सम्पूर्ण जगत् का कारण भूत परम पुष्प परमात्मा इस समस्त संसार को भली भौति जानता है, क्योंकि समस्त संसार उस सर्व शक्तिमान के संकल्पमात्र से स्वयमेव उत्पन्न हुआ है। यह उसके लिए प्रयत्न साध्य नहीं है । उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना ही संसार में सबसे बड़ा तप तथा सर्वोत्तम आनन्द है । वह परमात्मा सर्वज्ञ अर्न्त-यामी अर्थात् समस्त प्राणियों की स्थिति को जानने वाला है । क्योंकि वही सबको उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का स्थान है । उसका ज्ञान किसी को भी नहीं है, क्योंकि कार्य कारण का ज्ञाता नहीं होता है । जो प्रमादी अज्ञानी अह्मिमानवशा उसे जानने का दावा करते हैं, वे उसके असीम आनन्द के लेशमात्र को भी नहीं जानते हैं ।

उस परमात्मा को मात्र दिव्य कृपा प्राप्त हृदय से ही अनुभव किया जा सकता है । इच्छिया उसको जानने में समर्थ नहीं है । ईशोपनिषद् के चौथे मन्त्र में ' ' नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्त्तु ' ' ³पद से भी यही बात कही गई है कि इच्छिया अपनी उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान को नहीं जान सकती है । क्योंकि परमात्मा ने उस इच्छियों का बाह्य गामी ही बनाया है । और उन्हें अपने से पराड मुखा कर दिया । अतः वे उसे नहीं देख सकती हैं ।

1- यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमपि तपः ।

तस्मादेतद्ब्रह्म नामत्पमन्त्रं च जापते ॥

मुण्डकोपनिषद्, 9 .

2- पराञ्चि सानि ऋतुणात् स्वयंभूः । 2. 1. । कठोपनिषद्

3- अनेजदेकं मनसो जवीय नैनद् देवाः पुनर्वन्पूर्वमर्त्तु ।

ईशोपनिषद् - 4 .

उस सर्वज्ञ को दिव्य दृष्टि के कारण कवि भी कहा गया है। वह सर्वदृक् है, क्रान्तदृष्टा है, सब ओर देखने वाला है, सबका ज्ञान रखने वाला है। कोई भी प्राणी वस्तु, पदार्थ, इस संसार में उसकी दृष्टि से परे नहीं है। संसार में जिस प्रकार कवि अपनी कल्पना शक्ति से साहित्य सृजन करके समाज को राह दिखाता है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी शक्ति से इस संसार में स्वयं को अभिच्यवत करता है। इस लिए महानारायणीपनिषद् में कवियों में उसे परम कवि कहा गया है। वह भूत वर्तमान भविष्य त्रिकाल ज्ञाता है, संसार का नियामक है। संसार तो देश काल में कर-बरतने वाली दृष्टिक वस्तु है। वह ब्रह्म तो अक्षयः कवि² है।

वह परम ब्रह्म कवि के साथ-साथ मनीषी भी है। मनीषी का तात्पर्य मन का ईशान् करने वाला। मन इस शरीर स्त्री स्थूल संघात का शासक है। परन्तु वह परम ब्रह्म तो मन के भी ऊपर शासन करने वाला है। मन तो उसी की शक्ति के चिन्मात्र से अपना कार्य करने में सक्षम है। मन तो ब्रह्म की माया स्त्री शक्ति से उत्पन्न विकार है, भला मन उसे कैसे जान सकता है।

आठवें मन्त्र³ में आये कविर्मनीषी पदों से ब्रह्म को सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ बताया गया है। क्योंकि भौतिक संसार में सब कार्य मन के द्वारा तथा बुद्धि के द्वारा सम्पादित ही दिखाई देते हैं। अतः मन से ब्रह्म का भ्रम न हो इसलिए मनीषी पद से उसको सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ एवं सबका शासक बताया गया है।

1- तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् - 11. 6 महानारायणी पनिषद्

2- महानारायणीपनिषद् 1. 10

3- स पर्यगात् शुक्रमकायमम्रणमस्त्राविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषीः परिभूः स्वयम्भूयाधातव्यतोऽयं क्वदधात् शाश्वतीभ्यः
समाभ्यः ॥

- ईशावास्योपनिषद् - 8 .

मन तो परमात्मा को सारथि के रूप में धामो हुई इस शरीर को रथ की लगाम है । जिस सूत्र से वह परमात्मा इस संसार को नियन्त्रित करता है । लगाम स्वयं नियन्त्रक नहीं होती, बैसे ही मन संसार का नियन्त्रक न होकर एक सूत्र मात्र है, जिसके माध्यम से परमात्मा इस स्थूल संसार को नियन्त्रित करता है ।

श्री अरविन्द कवि और मनीषी के बीच के अंतर को इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं । कवि को जन्मजात नैसर्गिक रूप से तात्त्विकता अवलोकन की क्षमता प्राप्त होती है । वह स्वयमेव पदार्थों की वास्तविकता का अवलोकन करता है । दूसरी ओर मनीषी मन पर शासन करके अर्थात् उसे वशीभूत करके इन्द्रियजित होकर गंभीर चिंतन के द्वारा उस स्थिति को प्राप्त होता है, जिसमें वह किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को देख सके ।²

उस परमब्रह्म के पक्ष में दोनों ही बातें सही हैं । क्योंकि वही एक मात्र सत्य है । सत्य ही नहीं बल्कि, सत्य का सत्य है । तथा इस समग्र संसार के प्राणियों के मन का शासक है । मन शरीर का संसार का शासक और परम ब्रह्म उसका भी शासक अर्थात् वह एकाधिपति है ।

वह परमतत्त्व सर्वज्ञ होने के कारण प्रत्येक कर्म को करने में समर्थ है । अतः उस नित्ययुक्त ने, यथाभूत कर्म, फल और साधन के अनुसार अर्थों (कर्तव्य पदार्थों) का याथातथ्य रीति से विधान किया, अर्थात् जिस कर्म को करने में जो

1- आत्मानं तु रथिनं विद्धि शरीरम् रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रगृहमेव च ॥ 3

1. 3 3 कठोपनिषद् .

2- There is a clear distinction in Vedic thought between 'Kavi' the seer and 'Manisi', the thinker. The former indicates the divine supra-intellectual knowledge which by direct vision and illumination sees the reality, the principles and forms of things in their true relations, the latter, the labouring mentality, which works from the divided consciousness through the possibilities of things downward to the actual manifestation in form and upward to their reality in the self-existent-Brahman.

पदार्थ सक्षम् जा, उसे वही कर्म दिया गया । इस प्रकार सामर्थ्य के अनुसार कर्म विभाग को ही याथातय भाव इस मन्त्र में कहा गया है । और उसी परमब्रह्म ने शाश्वत नित्य समाजों को अर्थात् संवत्तार नामक प्रजापतियों को भी उनकी योग्यता के अनुसार पृथक्-पृथक् कर्तव्य बाँट दिये । समग्र विश्व में विभिन्नता होते हुए भी सक्षम व्यक्तित्व को उचित क्रिया करने को शक्ति भी उस परमब्रह्म के द्वारा ही प्रदान की गई है ।

संसार का प्रत्येक कार्य उसी की आज्ञा से होता है । परन्तु वह कोई मानव स्वल्प कर्त्ता नहीं है । उसका स्वल्प बड़ा ही विलक्षण है ।-

3- विलक्षण :-

वह परमब्रह्म मन वचन और कर्म से परे है । अगम अगोचर है । उसका कोई मूर्त रूप नहीं है । ईशाओपनिषद् के आठवें मन्त्र में कुछ शब्दों द्वारा उसके विलक्षण स्वल्प की चर्चा की गई है । वह तत्त्व शरीर रहित, कृति पूर्ति से रहित तथा स्नायु तन्त्र से हीन है । क्योंकि ये ती सब शरीरधारियों के धर्म हैं । शरीर में ही स्नायु, लोमादि तथा कृति-पूर्ति, दुःख-वर्तेशादि होते हैं । वह तो एकमात्र आनन्द स्वल्प है ।

वह स्वयम् अर्थात् स्वयं ही उत्पन्न हुआ है । उसका कोई आदि अन्त मध्यादि नहीं है । फिर भी वह सर्वत्र विद्यमान है । परिभूः है । कुछ भी उसकी सत्ता से परे नहीं है ।

उस परमब्रह्म का स्वल्प विलक्षण होने के कारण अवर्णनीय अनिर्वचनीय है उसका ब्रह्मान नहीं किया जा सकता है । याज्ञवल्क्य ने गागी

1- शांकरभाष्य ईशावास्योपनिषद्, 8 .

कौ जब ब्रह्म का उपदेश दिया, उस समय स्वल्प के प्रश्न पर वे इस प्रकार संकेत करते हैं कि वह अक्षर ब्रह्म न छोटा है, न बड़ा है, न पतला है, न मोटा है, न लाल है, न काला है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न श्रोत्र है, न वाक् है, न मनस् है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न अन्तर है, न आदि है, न मध्य है, न अन्त है, न भीतर है, न बाहर है, न वह कुछ छाता है, न कोई उसे खाता है। अर्थात् वह किसी भी विशेषता, विकार से परे अनन्त है, अवर्ण है, अशरीर है, अच्छाय है मन वचन कर्म से परे है, सर्व व्यापी है, सर्व शक्तिमान है, सर्व स्पर्ण सर्व ही है।¹

उसके स्वल्प के आनन्द को मात्र अनुभव किया जा सकता है। संकेत अथवा वाणी या अन्य कोई सांसारिक क्रिया उसे बताने में असमर्थ है। उसे तर्क-वितर्क अथवा बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता। इसका अनुभव मात्र उन्होंने सौभाग्यशालियों को होता है, जिन्हें उस परम प्रभु की स्वयंसिद्ध दिव्य कृपा प्राप्त होती है। वे ही इसके स्वल्प का अनुभव करते हैं। रसा-
स्वादन करते हैं।²

4- स्थित और गतिशील-

चौथे मन्त्र में आये 'अनेजदेकमनसो-जबो य' पद से उसके अद्भुत स्वल्प की ओर संकेत मिलता है, कि वह परमतत्त्व अनेजत् अर्थात् गतिशून्य है। किसी

1- स होवाधैतद कश्चन ।

बृहदारण्यकोपनिषद्, 3 8 8

2- 'नायमात्मा प्रवचयेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैव वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तदुस्थी ।

कठोपनिषद्, 1. 2 23 .

भी प्रकार की क्रियाशीलता से रहित है। साथ ही दूसरे पद 'मनसोज्वीय' से उसे मन से भी अधिक वैगवान बताया गया है। संसार में मन का वैगवत्व ही प्रसिद्ध है, परन्तु वह तो उससे भी द्रुततर गति वाला है। क्योंकि वह सर्व-व्यापी है, और मन अणु परिमाण वाला बताया गया है। मन तो उसको ही चित्त शक्ति के अंश मात्र से ही इस शरीर पर शासन करने में समर्थ है। मन का क्षेत्र उसके क्षेत्र की सीमा के भीतर है।

उपर से देखने पर इन दो पदों में विरोधाभास दिखाई देता है, कि एक ओर तो परमतत्त्व गति शून्य है, और दूसरी ओर 'मनसोज्वीय' है। दोनों बातें एक साथ कैसे सम्भव हैं? यह विरोध मात्र शाब्दिक ही है। वास्तव में यही ब्रह्म के स्वल्प का वैचक्षण्य है। आचार्य शंकर इस विरोध का परिहार ब्रह्म के सोपाधिक और निस्पाधिक दो रूप मानकर करते हैं। उनके अनुसार अपने निस्पाधिक स्वल्प में स्थित ब्रह्म अनेजत् अर्थात् गतिशून्य है, और सोपाधिक रूप में अन्तःकरण की संस्कारविकल्पात्मिका शक्ति का अनुवर्तन करने के कारण मनसोज्वीय है। अर्थात् सृष्टि काल में माया शक्ति से सम्पन्न ब्रह्म सोपाधिक है।

श्री अरविन्द 'अनेजत्' और 'मनसोज्वीय' के पदों को इस प्रकार समझते समझाते हैं कि सिसृक्षा की अवस्था में प्रकृति रूपा शक्ति से संयुक्त ब्रह्म मनसोज्वीय है। संसार में ब्रह्म का दर्शन ही उसको मनसोज्वीय अर्थात् गतिशील

1. ' ' तत्र परिहार- निस्पाधिकेन स्वेन स्वेणोच्यते अनेज-

देकिमिति मनसोः अन्तःकरणस्य संस्कारविकल्पतक्षण-
-स्योपेसुवर्तनाद् मनसोज्वीय इत्याह।

ईशोपनिषद्, 4, शंकर भाष्य ।

अवस्था है परन्तु जब ब्रह्म निर्लिप्त होकर अपने सच्चिदानन्द स्वल्प में स्थित होता है, वह अवस्था अनेकत् अर्थात् गतिशून्य अवस्था है ।¹

आचार्य शंकर विलक्षण शक्ति से सम्पन्न ब्रह्म के द्वारा सृष्टि क्रिया मानते हैं । जिसमें ब्रह्म कृतृत्व का अभिमान करके माया से उपाधि युक्त होकर संसार की सृष्टि करता है । यह माया शक्ति क्या है ? ऐसा कुछ भी ज्ञात नहीं होता । वे ब्रह्म के समान माया को भी सत् असत् से परे विलक्षण मानते हैं । साथ ही उसे ब्रह्म से द्वितीय भी नहीं मानते हैं ।

परन्तु श्री अरविन्द ब्रह्म को सिसृक्षा अवस्था की प्रकृति की अवस्था व संसार में कृतृत्व से युक्त गतिशील स्थिति मानते हैं । उनके अनुसार ब्रह्म संसार के रूप में स्वयं अपने स्वल्प को ही अभिव्यक्त करता है । और सृष्टि करने के उपरान्त ब्रह्म अपने अखण्ड, अनन्त, असीम, अद्भुत, अग्न्य अगोचर, सत् चित् आनन्द स्वल्प में स्थित हो जाता है । दोनों ही रूपों में परमब्रह्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । वह तो निगुण, अविकारो और निर्लिप्त ही रहता है ।

-
- 1.- He is one yet he is atonce unmoving and swifter than mind. He is both 'Prakriti' and 'Purusha'; and at the same time he is neither, but one and indivisible, Purusha and Prakriti being merely conceptions in his mind deliberately raised for the sake of creating multiplicity. As he is Prakriti he is swifter than mind.

इसी प्रकार इसी चतुर्थ मन्त्र के तृतीय पाद में आये 'तद् धावतो अन्धान' पद से भी उस ब्रह्म की इन दो अवस्थाओं का ही संकेत है । उस परम ब्रह्म की सत्ता के क्षेत्र की सीमा भी कोई सांसारिक तत्त्व लांघ नहीं सकता । कोई भी सांसारिक गतिशील अथवा क्रियाशील वस्तु उसके क्षेत्र के बाहर क्रियाशील नहीं है । क्योंकि यह समस्त संसार उस परमब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है । न ब्रह्म संसार से पृथक् है, और न ही संसार ब्रह्म से । दोनों एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं, त्प हैं । बृहदारण्यकोपनिषद् में भी ब्रह्म के स्वल्प का वर्णन करते समय बताया गया है, कि वह परमात्मा गतिशील होता हुआ भी स्थित है, अटल है । और एक होता हुआ भी समस्त संसार को परिहृन्म किये हुए है ।

उपरोक्त सभी विरोधी बातें उसके विलक्षण स्वल्प को ही द्योतित करती हैं ।

५- प्रकाश स्वल्प :-

ब्रह्म का कोई भी वर्णनीय स्वल्प न होने पर भी वेदों तथा उपनिषदों ने उसका स्वल्प प्रकाशमाना है । उसे सत् चित् आनन्द कहा गया है । ईशापनिषद् के अठारह मन्त्रों में से दो-चार मन्त्रों में ऐसे कुछ पद हैं जो उस ब्रह्म को प्रकाश स्वल्प संकेतित करते हैं । आठवें मन्त्र में 'शुक्' 'शुद्ध' 'अपापविद्ध' शब्द उसके शुद्ध प्रकाश, स्वल्प ज्योतिमान्, किसी भी प्रकार के विकार से रहित स्वल्प के द्योतक हैं ।

१- गतिपूर्वकं यत्स्थासु २३ ।

शांकरभाष्य बृहदारण्यकोपनिषद् .

तीसरे मन्त्र असुर्या¹ नाम ते लोका में भी ब्रह्म से ही न लोको को 'अन्धेन' तमसहृतकहा गया है । अन्धेन तमसा अर्थात् प्रकाश के अभाव वाले । जिससे यह अनुमान पुष्ट होता है, कि ब्रह्म प्रकाश स्वल्प है ।

सौलहवै² मन्त्र में स्तौता ऋषि जिस देवता को प्रतीक मानकर ब्रह्म की उपासना कर रहा है, वे देवता भी प्रकाशवान स्वल्प वाले है । अर्थात् वे उसके प्रकाश से ही प्रकाशित है । पूषन्, सूर्य, एकर्षि आदि प्रतीक अथवा देवता उसके स्वल्प की अभिव्यक्ति है । है सूर्य।तु अपनी किरणों के जाल को समेट ले, जिससे मैं साधक उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकूँ । क्योंकि जो वह है, वही मैं भी हूँ ।

सूर्य के प्रकाश से यह संसार अभिभूत है, जो कि उस परमात्मा के किञ्चित मात्र प्रकाश से समस्त संसार को प्रकाशित करता है । अतः यदि सूर्य अपनी किरणों का व्यवधान हटा ले, तो साधक परम ब्रह्म के दर्शन को अभि-लाषा करता है ।

उस परमब्रह्म का स्वल्प तेज मात्र है, फिर भी मात्र दिव्यकृपा सम्पन्न हृदय से ही उसका अनुभव किया जा सकता है । इन्द्रिया उस तेज को ग्रहण करने में सक्षम नहीं हैं । अतः साधक अपने कल्याण के लिए उस परमसत्य के अवलोक-नार्थ पुनः पुनः उस पर्दे को हटाने के लिए प्रार्थना करता है, जिससे उसका असली स्वल्प दिखाई नहीं देता ।³

1- असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाहृतः । - ईशाोपनिषद्, 3

2- पूषन्नैकमेव यम सूर्यं प्राजापत्यं व्यूहरश्मीन्समूह-

तेजो यस्ते त्वं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि

योऽसावसौ पुच्छः सोऽहमस्मि ।

- ईशाोपनिषद्, 16 .

3- हिरण्यमेव पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् -।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय द्रुष्टये ॥ 15

- ईशाोपनिषद्, 15

उसके सत्य स्वल्प पर इस संसार के मोह जाल तपी पर्दे के होने से वह जन साधारण द्वारा प्राप्तव्य न होकर, ज्ञानीजनों के लिए ही प्राप्य है । उपनिषदों में भी कहा गया है, कि उस ब्रह्म ने संसार की रचना करके स्वयं उसमें प्रविष्ट होकर विलक्षण स्वल्प में अपने को स्थित कर दिया । अपने ही भीतर विद्यमान होने पर भी प्राणी उसे देख नहीं पाता, कण-कण में व्याप्त होने पर भी जन्म-जन्मान्तर तक भटकता रहता है ।

ईशाउपनिषद् में ब्रह्म के स्वल्प पर प्रकाश डालने वाले जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनका सम्यक् अवलोकन करने पर उस परमात्मा का स्वल्प कुछ इस प्रकार निरूपित होता है कि वह ब्रह्म ही समस्त गतिशील संसार में एक मात्र स्थिर तत्त्व है । वह स्वयं स्थिर और अविकारी रहकर भी इस संसार को चलायमान रखता है । परन्तु सिसृक्षा की अवस्थाएँ वह ब्रह्म गतिशील अवस्था में होता है । और उसकी गति का कोई भी संसारिक पदार्थ अतिक्रमण नहीं कर सकता । यह गतिशीलता ब्रह्म के निर्विशेष अविकारी स्वल्प पर कोई प्रभाव नहीं डालती है । ईशाउपनिषद् के चौथे मन्त्र के अनुसार वह ब्रह्म एवम् क्रिया अर्थात् गतिशील है । और साथ ही अनैजत् गति अभिन्न शून्य है । यह कोई विरोध नहीं है यह तो उस परम ब्रह्म का वैचक्षण्य है कि वह समस्त संसार का निर्माण करने पर भी अकर्ता है, अभीवता है, अविकारी है ।

वह ब्रह्म सर्वव्यापी है संसार के प्रत्येक पदार्थ का वही मूल तत्त्व है । विश्व का कण-कण उसकी प्रभुता से व्याप्त है । यह समस्त संसार उसके द्वारा अपनी व्यापकता से आवरण के सदृश आच्छादित है । संसार उसके स्वल्प की अभिव्यक्ति मात्र है । परन्तु साथ ही वह अपने स्वल्प में स्थित इस चराचर जगत् से परे अवस्थित है । संसार का वैतन्य तो उसका आश्रित वैतन्य है, उससे परे भी उसका सच्चिदानन्द स्वल्प स्थित है ।

1- तदेजति तन्नैजति तद्द्रे तद्वन्तिके - ईशावास्योपनिषद्, 5 .

2- ईशावास्यमिदं सर्वम् । - ईशाउपनिषद् - ।

इतना व्यापक विराट होने पर भी उसका कोई वर्णनीय, दर्शनीय अथवा श्रोतव्य स्वरूप नहीं है जिसे देखा सुना अथवा वर्णन किया जा सके। वह स्वयं अपनी ही शक्ति से उत्पन्न हुआ है। उसका कोई आदि, मध्य, अन्त नहीं है। समस्त संसार में विद्यमान होने पर भी वह तत्त्व अखण्ड, असीम, अनन्त है। वह सर्व प्रकारेण पूर्ण है।

उसका स्वरूप शुद्ध, चैतन्य, ज्ञान स्वरूप, अशारीर, अमृत, क्षतिपूर्ति से रहित नायुतन्त्र से रहित निष्पाप है अर्थात् पाप-पुण्य से सर्वथा परे हैं। शाश्वत है। काल की सीमा से परे है। वह स्वयं इस तड़ चैतन्य जगत् का कारण है, परन्तु कोई भी उसका कारण नहीं है। यह समस्त संसार उससे एक व्यवस्था के रूप में उत्पन्न होता है। परन्तु उसकी उत्पत्ति स्थिति कोई नहीं जानता। और यही रूप उसका इस संसार से उत्कृष्ट स्वरूप है। अपनी माया शक्ति से सम्पन्न होकर एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार उससे इस समस्त विश्व का जन्म हुआ है।

6- स्वल्प दर्शनार्थ याचना-

समस्त संसार में वही एक मात्र सत्य है, और उसका यह सत्य-स्वरूप जगत् के चित्र विचित्र मोहत्पी आवरण से ढका हुआ है। यह आवरण स्वर्ण के समान आकर्षक है, जो व्यक्ति को अपनी चमक के कारण सत्य तक पहुँचने में बहुत बड़ा बाधक तत्त्व है। इस आवरण के भीतर वर्तमान उसके सत्य स्वरूप के दर्शन के लिए अग्नि बार बार याचना करता है- हे अखिल विश्व का पूजण करने वाले। सभी प्राणियों को पुष्ट करने वाले, मुझ सत्यात्वेक साधक के कल्याणार्थ।

।-हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूजन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ 15

- ईशोपनिषद्, 15 .

तू अपने मूल स्वल्प को इस स्वर्ण मिथित चकाचौंध करके वाले पात्र से अनावृत कर दें , जिससे मैं तेरा साक्षात्कार कर सकूँ ।

इस प्रकार ब्रह्म अपने कल्याणकारी स्वल्प को साधारणतः मनुष्य की पहुँच से दूर, इस सासारिकता के चित्र विचित्र आकर्षक आवरण से आवृत किये हुए है, परन्तु जो ज्ञानी जन उसके मूल सर्वाधिक आनन्ददायी स्वल्प का साक्षात्कार कर लेते हैं । उनके लिए वह परमानन्द को प्राप्ति है, क्योंकि उस परम ब्रह्म का तो स्वल्प ही सच्चिदानन्द है ।

जीव ब्रह्म के तद्रूप है, इसी ताद्रूप्य की अवगति के साथ ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । जहाँ ज्ञाता के भीतर तनिक भी भेद बुद्धि न हो वहीं ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव है । अन्यथा वह बहुत दूर भी है । और जो ज्ञानी जन उसको अपने भीतर देखते हैं, वह उनके अत्यन्त समीप है । क्योंकि वह सर्वत्र विद्यमान है । साक्षात्कार को प्राप्त साधक सर्वत्र उस परम कल्याणमय स्वल्प के दर्शन के समय स्वयं में भी उस ब्रह्म तथा ब्रह्म में स्वयं को समझता है । यही साधक की परमगति है । पंचभूतों से निर्मित हुआ यह शरीर पंचभूतों में ही विलय हो, ऐसी कामना करता हुआ, साधक इस भवसागर के आवागमन से छूटकर सद्गति को प्राप्त हो जाता है ।

1- पूषन्नेकै यम सूर्य प्राजापत्य ऋषूह रश्मोन् समूह

तेजो यत्ते स्वं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽस्य सौ पुत्रः सौऽहमस्मि ।

ईशावास्योपनिषद् । 6

2- वायुरन्तर्ममूतमपेद भस्मान्तं शरीरम् ।

ॐ कृतो स्मर कृतं स्मर कृतो स्मर कृतं स्मर ॥ । 7

ईशाोपनिषद्, । 7

उपनिषद् के इन्हीं शाब्दों के आधार पर आचार्य शंकर और श्री अरविन्द अपनी विचारणा के अनुसार जो स्वल्प प्रस्तुत करते हैं, वह एक दूसरे से कुछ भिन्न है। एक ही तथ्य को वे दोनों नितान्त विपरीत रूपों में व्याख्यायित करते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार परमतत्त्व सर्वथा अविकारी है। यदि वह जगत् से किसी प्रकार सम्बद्ध है तो मात्र माया अथवा अज्ञान के कारण। माया अथवा अविद्या से सम्पन्न ब्रह्म ही स्वयं को भीवता, कर्त्ता, हर्त्ता, समस्तता है, अन्यथा वह तो एक मात्र आनन्द स्वल्प है। अतः उनकी दृष्टि से ब्रह्म को सदैव अविकारी, शाश्वत और स्थिरता का तत्त्व होना चाहिए। परन्तु उपनिषद् में उसे स्थिरता के साथ-साथ गतिशीलता का भी तत्त्व कहा गया है। अतः उसकी गतिशीलता भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है, जिसे शंकर महत्वहीन कर नकार देते हैं और उपनिषद् की मूल विचारणा से हटकर वे माया के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। जिससे उपनिषद् के चौथे एवं पाँचवें मन्त्र के एक ही पक्ष की व्याख्या वे करते हैं, जो सर्वथा अधूरी है। क्योंकि गतिशीलता के तत्त्व की व्याख्या वे नहीं करते।

7- ब्रह्म की गतिशीलता-

इसके विपरीत श्री अरविन्द स्थिरता के साथ गतिशीलता को भी स्वीकारते हैं, जैसा कि उपनिषद् से स्पष्ट है, उनके अनुसार कारण ब्रह्म में गतिशीलता है इसीलिए ही संसार भी गतिशील है। क्योंकि संसार ब्रह्म से पृथक् कोई अन्य वस्तु नहीं बल्कि ब्रह्म को ही अभिव्यक्त है। अतः उनके अनुसार ब्रह्म न केवल क्रियाशून्यता की अवस्था में ही सत्य है, प्रत्युत क्रियाशीलता की अवस्था में भी उतना ही सत्य है। इसी स्वीकृति के परिणामस्वरूप वे ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध को भली भाँति व्याख्या कर पाते हैं। अतः ब्रह्म की क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप जगत् वास्तविक है। यदि जगत् को अविद्याजन्य कहा गया है, तो उसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह सर्वथा अविद्यात्मक ही है। जगत् मात्र अज्ञान ही नहीं बल्कि ज्ञान और अज्ञान से

संमिश्रित है । इसी कारण उपनिषद् में अविद्या के द्वारा मृत्यु के संतरण तथा विद्या के द्वारा अमृत प्राप्ति को बात कही गई है । एक के अभाव में दोनों ही ब्रह्म प्राप्ति के लिए अपूर्ण है । दोनों के समन्वयात्मक दृष्टिकोण से ही सद्गति सम्भव है ।

१- विद्या वाविद्यो च यस्तद् वेदैर्म सह ।

अविद्याया मृत्यु ती त्वा विद्ययामृतमनुते ॥ ॥

- ईशोपनिषद् - ॥ .

अध्याय - तृतीय

** ब्रह्मलीन की स्थितियाँ **

सांसारिक दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति की स्थिति ही मोक्ष है, जो मानव जीवन का परम लक्ष्य है। यह स्थिति परमानन्द की स्थिति होती है। जहाँ साधक अपने साध्य से अमेद स्थापित करके उसी में लीन हो जाता है। और उसे दुःख-सुख, ईर्ष्या, द्वेषादि अहंकार जन्य विकारों का लेश मात्र भी अनुभव नहीं होता। उसके लिए संसार ब्रह्म स्वाभाविक रूप से चलता रहता है। वह उससे किसी भी प्रकार आकृष्ट अथवा उद्बिग्न नहीं होता है।

ये सभी बातें वर्णन की वस्तु नहीं हैं, बल्कि अनुभव करने योग्य हैं। इस स्थिति का वर्णन शब्दों में अथवा मौखिक रूप में वाणी से नहीं किया जा सकता है। क्योंकि यह एक ऐसा रस है, जिसका ज्ञान मात्र आस्वादन कर्त्ता को ही होता है। वह इसे किसी शब्द सीमा में बाध करके छूटा, मीठा, नमकीन अथवा कड़वा नहीं कह सकता। यह रस अद्वितीय और अनिर्वचनीय है।

ईशोपनिषद् के अठारह मन्त्रों में से दो मन्त्रों में इस स्थिति की ओर कुछ संकेत किया गया है कि मुक्त व्यक्ति का आचार-व्यवहार तथा हाव भाव किस प्रकार हो जाते हैं। वह किस प्रकार सामाजिक जीवन व्यतीत करता है? मोक्ष की अथवा ब्रह्म प्राप्ति की यह स्थिति इस स्थूल देह का पतन नहीं है। बल्कि यह अपने मूल तत्त्व में जीवात्मा के मिलन की स्थिति है। दोनों की एकत्पता है। अमेद दर्शन की स्थिति है। इसके लिए किसी आयु आदि का बंधन नहीं है। जीव को जब संसार असार लगने लगे, तभी वह इसके लिए प्रयत्न करता है। और प्राप्त करने के लिए वह सांसारिक विषय भोगों को त्यागकर दुःखों की निवृत्ति के लिए अग्रसर होता है।

1- विभिन्न दर्शनों में मोक्ष सम्बन्धी अवधारणा :-

इतनी विविध अनिर्वचनीय स्थिति की प्रत्येक वास्तविक दर्शन ने स्वीकार किया है। परन्तु कुछ भेद अथवा भिन्नताओं के साथ, -याय वैशेषिक दर्शन के अनुयायी इस ब्रह्मलीन अथवा मोक्ष की स्थिति को जीव की शून्यावस्था मानते हैं। अर्थात् इस स्थिति में पदार्थों का ज्ञान ही जाने पर जीव ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ न उसको दुःख अनुभव होता है और न सुख बल्कि इन सब से परे वह शून्यावस्था होती है। सांख्य के अनुसार सत् रज् तम की साम्यावस्था ही मोक्ष है। अर्थात् जब प्राणी के भीतर रहने वाले को अथवा, पुच्छ को प्राणी जान लेता है, तो वह अपने मूल स्वल्प निर्विकार, निर्विशेष, त्रिगुणातीत स्वल्प को पहचान लेता है।

2- वेदान्त तथा गीता :-

वेदान्त इस स्थिति को इन दोनों से भिन्न परम आनन्द की स्थिति मानता है। जहाँ केवल आनन्द ही आनन्द होता है। किसी भी प्रकार के रागद्वेषादि आदि सांसारिक सुखों तथा दुःखों को उत्पन्न करने वाले भाव वहाँ नहीं होते हैं। ईशाओपनिषद् के अनुसार ब्रह्मलीन व्यक्ति की स्थिति इस प्रकार होती है। इन दो मन्त्रों में से एक में ब्रह्मलीन व्यक्ति की सामाजिक स्थिति की ओर तथा दूसरे में उसकी मानसिक स्थिति की ओर संकेत किया गया है। जो समस्त भूतों में आत्मा का तथा आत्मा में समस्त भूतों का अभेद दर्शन करता है।

1- यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुपसते ॥ 6

- ईशावास्योपनिषद्, 6 .

वह किसी भी प्राणी से घृणा नहीं करता है । क्योंकि उसे सर्वत्र आत्मा ही आत्मा दिखाई देती है । अहंकार आदि के नष्ट हो जाने के कारण वह प्राणी सांसारिक विकारों से परे हो जाता है । श्री मद्भगवद्गीता में ब्रह्मलीन स्थित प्रज्ञ की कुछ विशेषताएँ बताई गई हैं । जिस समय मनुष्य के मन में स्थित अहंकार भाव के कारण उत्पन्न होने वाली समस्त एषणाओं, कामनाओं का परित्याग हो जाता है । और जो आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट हो जाता है । अर्थात् उसकी एक मात्र अभीष्ट वस्तु सम्पत्ति आत्मा हो जाती है । इस समय वह व्यक्ति स्थित प्रज्ञ अर्थात् स्थिर बुद्धि वाला हो जाता है ।¹ फिर (वैचल्य) बुद्धि किसी अन्य राग द्वेष आदि में प्रवृत्त नहीं होती है । दुःखों के कारण वह सांसारिक स्थिति से उद्विग्न नहीं होता तथा सुखों के प्राप्त होने पर उसे विपक्ता नहीं अर्थात् आसक्ति रहित रहता है । क्योंकि संसारी मनुष्य का मोह के कारण यह स्वभाव होता है कि वह दुःखों को देखकर व्याकुल होकर उनसे दूर भागता है । तथा सुखों के प्राप्त होने पर चिरंजित तक उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करता है । परन्तु स्थित प्रज्ञ की स्थिति विपरीत होती है । वह सुख दुःख को स्वाभाविक समझकर किसी भी प्रकार विचलित नहीं होता है । वह पुण्य स्थित प्रज्ञ अर्थात् ब्रह्मलीन होता है ।²

वह पुण्य (आत्मज्ञानी) कल्प के अंगों के समान अपनी इन्द्रियों को समेटकर उन्हें आत्मा की ओर अवस्थित कर लेता है ।³ जगत् में जिस प्रकार

1- प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थित प्रज्ञस्तदोच्यते ॥ 55

- श्रीमद्भगवद्गीता, 2 . 55 .

2- दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागमयक्रोधः स्थितधीर्मुनिर्बुध्यते ॥ 56 श्रीमद्भगवद्गीता, 2 . 56

3- यदा संहरते वायं कूर्मोऽङ्गीनीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थैः यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ 58

जसीय प्राणी कछुआ अपने अंगों को सिकोड़कर, अपने शरीर में ही छिपा लेता है । उसी प्रकार ब्रह्म को प्राप्त हुआ स्थित प्रज्ञ पुत्त्र भी अपनी इन्द्रियों को सांसारिक विषयभोगों से हटाकर, एक मात्र तत्त्व आत्मा में स्थित कर लेता है। और वे फिर उसके आदेश के अनुसार ही कार्यशील होती है ।

आत्मज्ञानी पुत्त्र की स्थिति इतनी ठ्यापक हो जाती है कि वह समुद्र के समान शान्त और गम्भीर स्वभाव वाला हो जाता है । जिस प्रकार अवतल जल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में सब प्रकार के जल वाली अनेकों नदियाँ स्वभाविक रूप से उसे चलायमान न करती हुई उसमें समा जाती है । अर्थात् वे किसी भी प्रकार समुद्र पर प्रभाव नहीं डालती, ठीक उसी प्रकार समस्त क्रियाएँ ज्ञानी पुत्त्र के सम्मुख होती हैं परन्तु उसके उनसे कोई भी प्रयोजन नहीं होता है ।

श्री मद्भगवद्गीता में इस प्रकार से ब्रह्म ज्ञानी की स्थिर स्वभाव वाला एषणा रहित तथा अपने आप्रसानुकूल कर्मों को करते हुए, निष्काम भाव से जोवन चयनीत करने वाला बतलाया गया है । संसार की कोई भी भाव इस पर अनुकूल अथवा प्रतिकूल किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं डालता है ।

3- विवेक-बुद्धामणि में जीवन्मुक्त का लक्षण :-

विवेक-बुद्धामणिकार में जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी का लक्षण इस प्रकार किया है, जिसकी बुद्धि निरन्तर प्रतिक्षण ब्रह्मकारवृत्ति से व्याप्त रहने के कारण बाह्य विषयों से विमुक्त हो गई है । अर्थात् इस संसार के किसी भी पदार्थ में जिसकी आसक्ति नहीं रह गई है । अन्य संसारो मनुष्य द्वारा निवेदन

1- तद्वत्कामा ये प्रविशन्ति सर्वे ।

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ 70

श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय . 2 . 70

पूर्वक प्रस्तुत किये गये भोगों को निद्रालु बालक के समान भोगता है । बालक को जिस प्रकार माता-पितादि द्वारा उपलब्ध कराये गये भोजन में कोई आसक्ति (क्रियाशीलता) नहीं होती है । माता पिता ही अपने धर्म का पालन करते हुए उसके श्रुद्धा-पिपासा, सुख-दुःख का ध्यान रखते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञानी के लिए तो सब कुछ आत्मा ही होता है । संसार को उसकी बुद्धि स्वप्न प्रपञ्च के समान देखने वाली होती है । ऐसा अनन्त पुण्यों का भोजन ज्ञानी पुरुष सर्वथा पूजनीय और धन्य है ।

तथा जिस पुरुष की समस्त कामनाएँ वासनाएँ शान्ति को प्राप्त हो गई हैं (अब किसी प्रकार का संस्कार उसके चित्त में नहीं है) व्यवहार में जिसके सभी कार्य पूर्ववत् होने के कारण जो विकारवान् सा प्रतीत होता हुआ भी निरन्तर अपने निर्विकार स्वल्प में ही स्थित रहता है । तथा जो चित्तयुक्त होने पर भी निश्चित है क्योंकि उसका चित्त तो पहले ही दर्पण के समान स्वच्छ निर्मल है । ऐसा पुरुष ही जीवन्मुक्त अथवा ब्रह्मज्ञानी पुरुष है । जिसमें सर्वत्र एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्म है, ऐसा पुरुष ही ब्रह्मलय को प्राप्त हुआ संसार से परे है ।²

1- ब्रह्माकारतया सदा स्थिततया निर्मुक्तबाह्यार्थीः

अन्यावेदितस्त्वौ गम्यसौ गतनी निद्रालुपद्बालवत् ।

स्वप्नालौकिकतलौक्यजगदिदं पश्यन्वच्चचित्तस्थ

धोरास्ते कश्चिदन्तपुण्यपलमुग्धस्यः स माम्यौ भुवि ॥ 426

विवेक-बुद्धामणि-शंकराचार्य

2- शान्तसंसारफलः कलावानपि निष्कलः

यः सचित्तोपि निश्चितः स जीवन्मुक्त इत्यते ॥ 431-

विवेक-बुद्धामणि-आचार्य शंकर .

आचार्य शंकर ने विवेक वृडामणि में जो लक्षण किया है । उसमें चित्तवृत्ति तथा भोगों पर अधिक ध्यान दिया गया है परन्तु वेदान्तसार में मुनि सदानन्द ने जीवन्मुक्त का लक्षण करते समय ज्ञान पर अधिक बल दिया है । उनके अनुसार जो साधक स्वयं (आत्मा) से अभिन्न परमात्माका ज्ञान प्राप्त करके अज्ञान को नष्ट कर देता है अर्थात् स्वयं को दृष्टि पर पड़े हुए माया-विच्छिन्न आवरण को छिन्न-भिन्न कर देता है । अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार करके अज्ञानविच्छिन्न सभी संचित कर्मों संशय विपर्यय आदि को नष्ट करके सभी प्रकार के बंधनों से विमुक्त हो जाता है और एक मात्र ब्रह्म में हो स्थित रहता है, वह पुण्य जीव जीवन्मुक्त होता है । उस परापर, सर्वनियन्ता, अन्तर्गामी पुण्य का दर्शन हो जाने पर दृष्टा तथा परमात्मा के बीच आभासित होने वाली भेद स्प गीठ टूट जाती है । उसके सब प्रकार के चित्त विकार संशय विपर्यय नष्ट हो जाते हैं कर्म ब्रह्माग्नि में जल कर अप्रभावी निष्फल हो जाते हैं ।¹ अर्थात् फिर उसके संचित प्रारब्ध किसी प्रकार के कर्म न कर्म संस्कार के जनक होते हैं और न बंधन के कारण । ऐसी स्थिति को प्राप्त हुआ पुण्य जीवन्मुक्त होता है । तथा शरीरपात के अनन्तर उसकी विदेह मुक्ति होती है ।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने मनीषियों ने जीवन्मुक्त का लक्षण किया है, मतस्तरुण्येदों के बावजूद उपर्युक्त सभी मतों जो पुण्य सांसारिक माया जाल को मात्र माया का कार्य समझकर उससे विरक्त हो जाता है तथा

1- अथ । जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वत्पाखण्ड, ब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधन
द्वारा स्वस्वत्पाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृते ज्ञानतत्कार्यसंचित कर्म
संशय विपर्ययादीनामपि बाधितत्वादलितबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः ।

१- भिद्यते हृदयग्रन्थिशिद्धयन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परापरे ॥ 34-

वेदान्तसार-सदानन्द .

संसार उसके लिए एक स्वाभाविक चक्र के समान अपने संवातक के द्वारा घुमाया जाता रहता है। वह व्यक्ति जीवन में बरतते हुए भी सभी प्रकार के आश्रम सम्मत संसारी धर्मों का निर्वहण करते हुए आसक्ति रहित हो जाता है। परन्तु फिर भी उसकी स्थिति सामान्य अज्ञानी पुरुष से भिन्न होती है। इसी को ईशोपनिषद् के छठे मन्त्र में सामाजिक परिप्रेक्ष्य रूप में संकेतित किया है। क्योंकि जीवन्मुक्त का तात्पर्य जीवन के वर्तमान रहते हुए ही मोक्ष की प्राप्ति है। अतः देह के पतन होने तक व्यक्ति को समाज में हो रहकर अपने आश्रम सम्मत धर्मों का पालन करना होता है। इसीलिए इस मन्त्र के अनुसार जीवन्मुक्त ब्रह्मलोक पुरुष संसार के प्रत्येक पदार्थ में आत्मा को देखता है और आत्मा में संसार को देखता है। इसलिए वह किसी भी प्राणी पदार्थ से घृणा नहीं करता है।

यह तो बिल्कुल सत्य है कि कोई भी प्राणी स्वयं से घृणा नहीं कर सकता है। जब आत्मज्ञानी स्वयं (आत्मा) का ही सर्वत्र दर्शन करता है तो भला फिर घृणा किससे करेगा? जब उसको सब कुछ आस तद्रूप ही दिखाई देता है, फिर किस प्रकार उसे भिन्न समझे? क्योंकि घृणा आदि तो अपने से भिन्न पदार्थों से होते हैं।

अहंकार जन्म होते हैं। जब अहंकार ही नहीं रहा तो उससे जन्म भाव कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? क्योंकि अहम् भाव के कारण ही मनुष्य को स्वयं ऊँचा तथा दूसरों को निम्न समझता है? और द्वेष के कारण ही वह राग, द्वेष घृणा आदि अहंकारी विकारों से प्रभावित होता है। किसी भी त्रिगुणी विकार के लिए द्वैत की स्थिति अत्यावश्यक है, स्वयं अपने आप से कोई प्रेम, घृणा, द्वेष आदि नहीं कर सकता है। अतः आत्मज्ञानी किसी से भी घृणा अथवा द्वेष नहीं रखता। उसके लिए सब कुछ आत्मा है। कितना ही घृणित (सांसारिक दृष्टि में) प्राणी हो अथवा कितना ही केष्ठतम दोनों में उसकी समान भावना होती है। उसके लिए सब कुछ केष्ठ और सभी कुछ असार होता है।

आत्मा ज्ञानी के लिए इस संसार में न तो कुछ अज्ञान होता है, और न ही कुछ ज्ञान । क्योंकि आत्मा को जानने वाले के लिए किसी भी प्रकार के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है । उसकी स्थिति तीनों गुणों से परे होने के कारण शोक विषाद आदि गुणों का उसमें शून्य होता है । अतः उसका सामाजिक व्यवहार प्रत्येक प्राणी में आत्मैव समत्वदर्शन के कारण सामान्य अज्ञानियों से उच्च तथा मानवीय मूल्यों से परिपूर्ण होता है । समाज के विच्छेद का कारण तो ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा तथा लोभ लालच आदि ही होते हैं जिसे इन सब से कोई प्रयोजन ही नहीं, उसके लिए समाज स्वयं में समस्या और स्वयं समाज में समस्या ही होगा ।

(4) सामाजिक स्थिति :-

विवेक बूडामणिकार ने ब्रह्मलीन पुस्तक की सामाजिक स्थिति की ओर किंचित संकेत किया है कि वह ब्रह्म ज्ञानी भी अन्य सांसारिकों की भाँति सभी सांसारिक भोगों का उपभोग करता है । परन्तु वह उन सबसे लिप्त नहीं होता । उनसे आसक्त नहीं होता है । वह चाहे साधु पुस्तकों के द्वारा पूजित किया जाये, अथवा दुर्जन पुस्तकों के द्वारा दुःखी किया जाये, परन्तु उसके लिए दोनों में समान भावना होती है । न साधु की पूजा उसमें आसक्ति अथवा प्रेम उत्पन्न न करती है, न दुर्जन की पीड़ा उसे व्याकुल करती है । उसे दोनों में ही समानता दिखाई देती है । क्योंकि सज्जन और दुर्जन दोनों में एक ही आत्मा है, तो फिर वह भेद किससे किसका करे ? शृणा, प्रेम द्वेष आदि के लिए भेद और द्वैत का होना आवश्यक है । स्वयं से कोई शृणा अथवा द्वेष नहीं कर सकता है परन्तु आत्मज्ञानी को तो सर्वत्र स्वयं का ही दर्शन होता है । और स्वयं में समस्त संसार का । तो फिर वह किससे शृणा, भय, द्वेष करे । सब कुछ तो उसके लिए तद्रूप ही है ।

इसीलिए विवेक बूडामणिकार ने स्वयं ही कहा है " सर्वात्मना बन्धविमुक्ति-हेतुः सर्वात्माभावत् न परोऽस्ति कश्चित् । " अर्थात् बंधन विमुक्ति मोक्ष के लिए सर्वात्मभाव, सभी में समान रूप से आत्मा के दर्शन के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है । क्योंकि समत्व दर्शन से व्यवित के भीतर

विद्यमान अहंकार स्वयमेव नष्ट हो जाता है। और अहंकार के न रहने पर सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म का दर्शन होता है क्योंकि यह संसार भी ब्रह्म की ही सत्ता है, परन्तु मोह के पर्दे के कारण हम इसके मूल तत्त्व को नहीं देख पाते। और समाज में भी यदि सभी को अपने समान ही देखने की स्थिति हो तो निश्चय ही फिर समाज में किसी प्रकार के दोषों के लिए स्थान न होगा। बृहदारण्यकोपनिषद्¹ के अनुसार, ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है, उसकी सत्ता भी अनन्त हो जाती है। वह किसी से भयभीत नहीं होता क्योंकि जब ब्रह्म अछुण्ड है, अभय, है तो ब्रह्म के स्वल्प में ही लय को प्राप्त हुए जीवात्मा को तो स्वयं ही अभयत्व प्राप्त हो जायेगा। सामाजिक जीवन में भी वह व्यक्ति भयभीत नहीं होता है क्योंकि भय के लिए द्वित्व की स्थिति आवश्यक है। परन्तु जिसके लिए सब कुछ स्वयं के समान हो है उससे किसी से भय क्यों होगा ?²

जगत् में धन और मृत्यु दो ही क्र भय के कारण है। आत्मज्ञानी का तो धन से कोई प्रयोजन ही नहीं है। फिर वह किसी से क्यों भयभीत होगा? दूसरा, मृत्यु उसके लिए संसार चक्र की एक स्थिति है। मृत्यु तो मात्र इस स्थूल देह का पतन है। इस तत्त्व को वह भली प्रकार से जानता है कि नित्य-शुद्ध बुद्ध में (आत्मा) न मरता हूँ और न मारा जाता हूँ। वह तो शाश्वत है, अनाद्यन्त है, फिर उसे भय क्यों होगा? धन और मृत्यु जो कि भय के जनक है, उसके लिए उसी प्रकार नगण्य है, जिस प्रकार वन में विचरण करने वाली गौ के गले में पड़ी हुई बहुमूल्य माला, चाहे गिर जाये अथवा गले में

1- ब्रह्मविद् ब्रह्मेव भवति ।

2- या एव ज्ञातव्यं आत्मानमभयं ब्रह्मैव सोऽभयं हि

वै ब्रह्म भवति ।

बृहदारण्यकोपनिषद् .

ही विद्यमान रहे, ओ के चित्त पर कोई प्रभाव नहीं डालती है। वह अपने कार्य में ही तल्लीन रहती है। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी के लिए सांसारिक दुःख अथवा विकार किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं डालते हैं। वह तटस्थ बना हुआ, अपने अभीष्ट में तल्लीन रहता है। उसकी उदासीनता ही संसार से विरहित है। उसके लिए संसार का प्रत्येक कार्य उस परम प्रभु की आज्ञा से हो रहा है। जिसका उस प्रभु पर कोई भी प्रभाव नहीं होता तो मला आत्मा पर ही क्यों होगा ? आत्मा तो स्वयं ब्रह्म ही है।

5- वेदान्तसार का जीवन्मुक्त -

वेदान्तसार में तत्त्वज्ञानी के लक्षण इत्यादि बताते समय पूर्व-वर्णितों द्वारा यह शंका की गई कि ब्रह्म ज्ञानी के अज्ञान का समूल नाश हो जाने के कारण वह शून्य कर्मों से पुण्य तथा पापकर्मों से पाप के बंधन में नहीं पड़ सकता है। अतः यह संभावना होती है कि वह लोक में वर्णित आचरण करने लगेगा। जिससे सामाजिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ सकता है। तथा अशुचिस्तु भक्षण के समान फिर एक कुत्ते में और ब्रह्मज्ञानी में कोई भेद नहीं रह जायेगा²⁴ ऐसी स्थिति में ग्रन्थकार ने इस शंका का परिहार इस प्रकार किया है कि जीवन्मुक्त आत्मज्ञान से सम्पन्न होती है। और आत्मज्ञान होना तब तक असम्भव है जब तक मनुष्य की निन्दनीय कर्मों से निवृत्ति होकर शून्य वासनाओं के अनुसार कर्मों के अनुष्ठान का अभ्यास नहीं बनता। अतः यह स्पष्ट है कि अशून्य वासनाओं तथा दुष्कर्म करने की

1- प्रारब्धसूत्रप्रभितं शरीरं प्रयातु वा तिष्ठतु गौरिवस्त्रक ।

न तत् पुनः पश्यति तत्त्ववैत्तानन्दात्मनि ब्रह्मणि लीनवृत्तिः ॥ 4।7.

विवेक-बुद्धामणि-शंकराचार्य

2- बुद्ध्याद्वैतसत्त्वस्य यथेष्टावरणा यदि ।

शुनोत तत्त्वदृशा चैव को भेदाऽशुचिर्ज्ञान ॥ 36

वेदान्तसार-सदानन्द .

प्रवृत्तियों का निवारण जीवन्मुक्ति के साधन भूत आत्मज्ञान सेपूर्व ही हो जाता है । आत्मज्ञान के पूर्व अज्ञानी पुत्रों की आहार विहार आदि में प्रवृत्ति बिना किसी कैटा के हुआ करती है । उसी प्रकार आत्म-ज्ञानी को शुभ वासमाजों की अनुवृत्ति स्वयंमेव अनायास ही होती है । वास्तव में तो वह शुभ- अशुभ दोनों प्रकार के भावों से परे उदासीन होता है । अतः ब्रह्म ज्ञानी के द्वारा असामाजिक व्यवहार की आशंका निरर्थक है ।

6 जीवन्मुक्त सम्बन्धो शोकारें और उनका समाधान :-

एक दूसरी शंका यह भी को जाती है कि ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मज्ञान का अभिमान हो सकता है । ग्रन्थकार ने इसका भी समाधान किया है कि ब्रह्म-ज्ञानी को अभिमान होने का प्रश्न ही नहीं उठता । क्योंकि वेदान्त के अनुसार ब्रह्मज्ञान का अधिकारी वही है जिसकी चित्तवृत्तियाँ शान्त हो गई होती हैं । और अभिमान तो अज्ञान जन्य अहंकार का फल है । जब अहंकार ही नहीं होगा, तो फिर उससे उत्पन्न अभिमान कैसे हो सकता है ? बृहदारण्यकोपनिषद् में स्थान-स्थान पर तथा अन्य भी कई उपनिषदों में कहा गया है कि जो ब्रह्म के ज्ञान का अभिमानी होता है । वह तो उसको किञ्चितमात्र भी नहीं जानता है । आत्मज्ञ वही है, जो अपने को ब्रह्मज्ञानी समझने की भावना से भी मुक्त होता है । क्योंकि ब्रह्मज्ञ के लिए ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी एकी-भूत होकर मात्र ब्रह्म ही होती है । उसके लिए सर्वत्र ब्रह्म से इतर कुछ भी नहीं होता है ।

1.- विधिनिषेध शास्त्रपरवशात्वं वेन्मुक्तस्य न भवेत्तर्हि पक्षेऽकारणा
प्राप्नोतीत्याशंका नैकर्म्यसिद्धिभावयेन पृथ्याकटे-तदुक्तं बुद्ध
इति । सतत्त्वं याथात्म्यम् । मुमुक्षोरपि नास्ति पक्षेऽकारणा
विदुषो मुक्तस्य कुत एव सा ।

वेदान्तसार-सदानन्द-मन्त्र 36 टीका .

अतः इतने मन्त्र में जो ब्रह्मज्ञानी की स्थिति बताई गई है, वह सामाजिक परिप्रेक्ष्य में तर्क संगत है। जिसका अज्ञान, द्वैत का भाव नष्ट हो गया है। वह फिर किससे घृणा अथवा प्रेम करेगा। तथा द्वैत का अभाव होने पर ब्रह्मज्ञ समत्व दर्शन के कारण सम्पूर्ण समाज के हित में कार्य करेगा।

आचार्य शंकर के अनुसार भी अपने से दूषित पदार्थ को देखकर व्यक्त को घृणा होती है। परन्तु जो आत्मज्ञ समग्र विश्व में अपने ही विशुद्ध आत्म स्वप्न को ही देखने वाला है उसकी दृष्टि में घृणा का निमित्त भूत कोई अन्य पदार्थ है ही नहीं, इसीलिए वह किसी से घृणा नहीं करता।

7- श्री अरविन्द का जीवन्मुक्त तथा उसकी समाज में स्थिति-

श्री अरविन्द आत्मज्ञ के समत्व दर्शन को मानव प्राणी के समाज तक ही सीमित न रहकर उसे पशु-पक्षियों तक विस्तृत कर देते हैं। उनके अनुसार एक कुत्ते, तथा मत्त के कोड़े में भी वही आत्मा समान रूप से पाया जाता है। आत्मज्ञानी के लिए समाज के प्रत्येक प्राणी के दुःख और सुख उसके अपने होते हैं। वे 'वसुधैव कुटुम्बकं' के सिद्धान्त से भी उठकर कहते हैं कि समाज के अथवा विश्व के प्रत्येक जीव के दुःख को भाई अथवा बहिन का दुःख सुख न समझकर, स्वयं अपना ही दुःख सुख समझना चाहिए। अतः समाज के प्रति जब ब्रह्म ज्ञानी व्यवहार करता है तो समत्व दर्शन के कारण उसे किसी से विशिष्ट तथा प्रेम-घृणा, राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि नहीं होते हैं। बल्कि

1- सर्वा हि घृणात्मनी यद्दुष्टं पश्यती भवति, आत्मानमेवात्म-
न्तविशुद्धं निरन्तरं पश्यती न घृणामिमित्तम् अर्थात्तरमस्तीति
प्राप्तमेव। ततो न विजुगुप्सत् इति। 6

-ईशावास्योपनिषद्- शंकरभाष्य मन्त्र 6.

उसके लिए वे सभी जीव एक समान तथा समान रूप से ही प्रिय होते हैं ।
 उसके लिए जाति, कर्म, ऊँच नीच का भेद नहीं होता है । वह तो सर्वत्र स्वयं
 का ही दर्शन करता है । तथा समस्त विश्व को स्वयं में समाया समझकर समाज
 के प्रति दयालु स्वभाव वाला होता है ।

इसी प्रकार राधाकृष्णन् भी आत्मज्ञानी की सामाजिक स्थिति अन्य
 अज्ञानियों से क्रेष्ठ बताते हुए कहते हैं कि जो वन्मुक्त पुरुष भी संसार में अन्य
 अज्ञानियों को ही भौति विचरणा करते हैं । वे कोई विशेष चिह्न धारण नहीं
 करते हैं । केवल उनके क्रियाकलाप ही उस परमात्मा में केन्द्रित होकर उसके
 वशीभूत रहते हैं । संसारी अज्ञानी जीव ऐसा करने में असमर्थ होते हैं । बल्कि
 वे इन्द्रियों के अधीन होते हैं । वे अज्ञानी पुरुषों से स्वयं को उच्च अध्वा
 भिन्न नहीं मानते हैं, बल्कि वे उनके प्रति सहनशील, सहिष्णु, सहानुभूति रखने
 वाले होते हैं । वे उनके प्रति सहायता करने वाले होते हैं, जो अभी बंधन में हैं
 मुक्त नहीं हुए हैं । सामाजिक तौर पर देखने में वे अन्य अज्ञानियों की भौति
 ही रहते हैं दुःख सहते हैं । प्रसन्न होते हैं तथा मृत्यु को प्राप्त होते हैं । परन्तु
 भेद मात्र इतना होता है कि इस सब को देखकर वे न तो दुःखी होते हैं न
 व्याकुल होते हैं, नहीं प्रमित होते हैं, किसी भी प्रकार से वे सांसारिक कष्टों से
 भ्रमणित नहीं होते । बल्कि स्वाभाविक वक्र को भौति समझकर संसार से परे
 रहते हैं । तथा सर्वत्र एक मात्र उस परमात्मा परमसत्ता का ही दर्शन करते हैं ।

1. Nor can that be until mankind has realised that all
 existence is oneself, for if an united humanity tyrannise
 over bird and beast and insect, the atmosphere of pain, hatred
 and fear breathing up from the lower creation will infect and
 soil the purity of the upper.....The 'Sruti' will
 not spare you the meanest insect that crawls or the foulest
 worm that writhes.

The Upanishads Sri Aurobindo P.487.

इसीलिए साधु (आत्मज्ञानी) का जीवन अज्ञानियों की अपेक्षा पवित्र, शान्त, उस सत्ता के प्रति समर्पित तथा औचित्य पूर्ण होता है ।

८- मानसिकता: -

ब्रह्मज्ञ पुस्तक का व्यवहार समाज में तो ठीक होता ही है साथ ही उसका मानसिक स्तर भी सामान्य अज्ञानी संसारी से अधिक तार्किक तथा विचारशील होता है वह शोक मोहादि आदि मानसिक विकारों से परे हो जाता है ।

ईशापनिषद् के सातवें मंत्र के अनुसार जो ब्रह्मज्ञ पुस्तक होता है, वह अहंकार जन्य मन के विकारों से परे हो जाता है । समत्व दर्शन के कारण वह यह भली प्रकार जानता है कि हम सब के भीतर विद्यमान आत्मा न दुःखी होता है, न सुखी होती है, न कर्त्ता है, न भोक्ता है । तो वह किसके लिए शोक, मोह करेगा ? क्योंकि या तो व्यक्ति स्वयं के दुःख से दुःखी होता है,

- 1- Those who have attained life eternal live and wander about in the world, to all appearance, like ordinary mortals. They wear no special sings. Only their activities are centred in the highest-being and are completely under their control. Which is not so far those who live in the world of Samsara. They are tolerant, Sympathetic and respectful to the unliberated who are struggling with unsatisfied minds.....

The Principal Upanishads- Radhakrishnan P. 129

2- यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजसतः ।

तत्र कः मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यत् ॥ ७

-ईशावास्योपनिषद् - ७ .

अध्या दूसरे का दुःख देखकर । परन्तु जिसके लिए सब कुछ आत्मा ही है, वह दुःख सुख आदि के भावों को क्यों अपना मानेगा ? आत्मा तो नित्य शुद्ध बुद्ध आनन्दस्वरूप है । और जो स्वयमेव आनन्द स्वरूप है, उसमें दुःख अध्या सुख के लिए तो कोई स्थान ही नहीं होता है । वह तो ब्रह्म में विलीन होकर ब्रह्म ही हो जाता है विवेक-बुद्धामणिकार ने इस स्थिति को इस प्रकार बताया है कि एकाग्रचित्त से परमवैतन्य एक मात्र सत्यस्वरूप ब्रह्म का ध्यान करते करते साधक ब्रह्मयुक्त नहीं बल्कि स्वयमेव ब्रह्म हो जाता है जिस प्रकार भ्रमर का भय पूर्वक ध्यान करते करते कीड़ा भ्रमर स्वरूप हो ही जाता है ।

उसी प्रकार आत्मा में स्थित हुए ब्रह्मज्ञ का अहंकार भाव नष्ट हो जाने पर उसका मन उसके वशीभूत होकर ब्रह्ममय हो ही जाता है । श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार वह ब्रह्मज्ञ दुःखों के प्राप्त होने पर परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाला भय, क्रोध, रागद्वेष से उद्विग्न न होने वाला होता है । तथा सुखों की प्राप्ति होने पर उनमें आसक्त न होने वाला होता है । अज्ञानी पुरुष तो सुखों के मिलने पर चिरकाल तक उनके उपभोग के लिए चिंतित रहते हैं । परन्तु ब्रह्मज्ञ को तो सुखों तथा ऐश्वर्यों से किसी प्रकार की कोई स्पृहा नहीं होती है । उसे इन अहंकारी भावों से कोई प्रयोजन नहीं होता है । क्यों ब्रह्मज्ञानी होने से पूर्व ही वह वित्तवृत्तियों का नाश करके शान्त चित हो जाता है । अतः सांसारिक दुःख अध्या सुख उसके लिए स्वाभाविक हो जाते हैं । उनके फलस्वरूप उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है ।² वह न तो किसी वस्तु के नष्ट होने पर दुःखी होता है । और न किसी के मिलने पर प्रसन्न । दोनों ही स्थितियों में उसकी समान भावना होती है । क्योंकि उसके लिए तो एक

1- सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया ।

कीटकी भ्रमं ध्यायन्भ्रमरत्वाय कल्पते ॥ 359

विवेक-बुद्धामणि-सदानन्द, 359

2- ईशापनिषद् - 7 .

मात्र ब्रह्म ही सर्वत्र छाया हुआ है, सब कुछ उसी में समाया है और सब में वह समाया हुआ है, तो वह फिर किस प्रकार से अमृत्य का भेद करे ? और इस मानसिक विकारों को देखे । उस ब्रह्मज्ञ का तो मन भी ब्रह्म स्वल्प ही होता है ।

ब्रह्मज्ञ का मन अज्ञानियों को भौति संकल्पविकल्प के कार्य का परिहार करके एक मात्र ब्रह्म में हो स्थित होता है । ऐसी स्थिति में सर्वत्र जब आत्मा ही है तो वह आत्मज्ञ शोक और मोह से बिल्कुल दूर हो जाता है । छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार भी आत्मज्ञ शोकों से तर जाता है । अर्थात् शोक उसे अपने प्रभाव से प्रभावित नहीं करते है । वह सदैव जाग्रत व्यक्ति के समान चेतन रहता है । क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार ब्रह्मज्ञ के लिए सदैव दिन हो रहता है प्रतिफल अपने इच्छा में रत रहने के कारण वह जाग्रत अवस्था में रहता है ।² क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में जिस प्रकार संसारी अपना कार्य छोड़कर कुछ समय के लिए उससे विमुक्त हो जाता है । आत्मज्ञ तो एक क्षण के लिए भी अपने इच्छा का विस्मरण नहीं करता है । कर भी कैसे सकता है ? क्योंकि वह तो स्वयं ब्रह्म ही है ।

सर्वत्र एकमात्र उसी की सत्ता है तो वह शोक अथवा मोह किसके लिए करेगा ? आचार्य शंकर के अनुसार आत्मज्ञ जो कि स्वयं आत्म स्वल्प ही हो गया है उस अवस्था में उसे क्या शोक होगा और क्या मोह होगा ? शोक और मोह तो कामना तथा कर्म के बोझ को न जानने वाले को हो होते है/आकाश के समान आत्मा का विशुद्ध एकत्व देखने वाले को नहीं।³ अतः ब्रह्मज्ञानी के लिए समग्र विश्व उसी में उपस्थित है ।

1- तरति शोकं आत्मवित् । छान्दोग्योपनिषद्, १।३

2- एक देव कृतस्ममभ्यवर्त सकृद्दिश्या है वास्मै भवति/छान्दोग्य, ३।१३

3- यस्मिन्काले यजोवतात्मनि गगनोपमं पश्यत :....।

- ईशावास्योपनिषद् - शंकरभाष्य, १.

9-जीवन्मुक्त की कार्यशीलता: -

इसी स्थिति की ओर ईशा उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ही संकेत किया गया है कि यह समस्त संसार उस ईश्वर से आच्छादित है। वह सर्वत्र एकस्पता से विद्यमान है। इस प्रकार के विचार तो जीवन्मुक्त व्यक्ति के ही हो सकते हैं। समत्व दर्शन के कारण उसको ही सर्वत्र सब पदार्थों में आत्मा तथा आत्मा में सर्वस्व दिखाई देता है। संसारी जो ब्रह्म तो एषणा त्रय के कारण तेरे मेरे के अहंकारी भाव से ग्रसित रहते हैं। भला उन्हें सब कुछ ब्रह्म से आच्छादित क्यों दिखाई देगा? उन्हें तो सिर्फ धन और यश के लिए ही विन्ता होती है। परन्तु जीवन्मुक्त व्यक्ति तो सब कुछ उस ब्रह्म को समर्पित करके अपना देहपातु तक जीवननिर्वाह करता है। किसी भी वस्तु पदार्थ के लिए वह खोने अपना प्राप्त होने पर चिंतित नहीं होता है। उसके लिए तो सब कुछ उस ब्रह्म की धरोहर है। उसके प्रति समर्पित होकर संसार का उपभोग ही सच्चा त्याग है। सन्यास है,।

श्री अरविन्द ने भी समर्पण पूर्वक संसार के उपभोग को त्याग माना है। उनकी दृष्टि में संसार से पलायन करके, जंगल में जाकर तप करने से अपने आश्रम धर्मों का विरचित पूर्वक निर्वाह करना अधिक उचित है। क्योंकि जीवन्मुक्त व्यक्ति सामाजिक प्राणी होने के कारण समाज के प्रति भी कर्तव्यवान है।

इसी तथ्य को अर्थात् कर्मशीलता को ही उपनिषद् के द्वितीय मन्त्र में ब्रह्मप्राप्ति का एकमात्र मार्ग बतलाया गया कि मात्र कर्म करते हुए ही व्यक्ति सौ वर्ष तक सम्पूर्ण आयु का उपभोग करे, तो उसे कर्म लेप नहीं

1- ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्प्रा जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धाम् ॥ 1.

ईशाउपनिषद्, -1.

होगा । अर्थात् निष्काम भाव से समर्पण पूर्वक किये गये कार्य त्याग भावना के कारण संस्कार जनक नहीं होते हैं । बल्कि ज्ञानी व्यक्ति उन्हें संसार की स्वाभाविक प्रक्रिया मानकर करता रहता है । उनसे किसी प्रकार आसक्त नहीं होता है ।

आचार्य शंकर ने इस मन्त्र को अज्ञानियों के निमित्त बताया है कि ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति में अक्षम संसारो मनुष्य अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जोने को कामना करें तो यही एकमात्र ऐसा मार्ग है जिससे उसे अशुभ कर्म का लेप नहीं होगा । परन्तु यह बात तो निर्विवाद है कि यज्ञ फल की कामना से किये जाते हैं । तथा उनके निधरित फल होते हैं । कारण और फल के परिणाम स्वल्प फिर संस्कार होते हैं । और फिर संस्कारों के कारण निधरित योनि होती है । अतः यह बात बिल्कुल भी तर्क संगत नहीं है कि अज्ञानी व्यक्ति ही कर्म का अधिकारी है । ब्रह्मज्ञानी नहीं । क्योंकि उपनिषद्गत संदर्भ के अनुसार द्वितीय मन्त्र स्पष्टतया ब्रह्मज्ञ के लिए कहा गया नहीं, अपितु ब्रह्मज्ञानी को स्थिति का वाक्य है कि ब्रह्मलोक पुण्य कर्मों का निर्वह करते यदि सौ वर्ष तक जोने की इच्छा करें तो उसे कर्म बोधन नहीं होगा । बल्कि यही एक मात्र ऐसा मार्ग है । जो मनुष्य को कर्म बोधन में नहीं डालता ।

प्रथम और द्वितीय मन्त्र एक दूसरे के सम्पूरक है कि जो पुरुष सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन करता है, कुछ भी ब्रह्म से विमुक्त नहीं देखता तथा संसार का उपभोग त्याग पूर्वक निष्काम भाव से करता है । ऐसा जो ब्रह्मलोक पुरुष अपने शरीर को रक्षा के लिए सभी सांसारिक धर्मों का अनासक्ति से पालन करता

1- कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ 2-

-ईशावास्योपनिषद् - 2-

हुआ सौ वर्ष तक जिये तो भी उसके कर्म बंधन कारी नहीं बल्कि मोक्ष के मार्ग में सहायक हो होते हैं। अतः जो वचनमुक्त व्यक्ति अहंकारी भावों से परे होने के कारण सदैव समाज के हित में ही कार्य करता है। उसका मन, स्पष्ट रहित हो जाता है, उसके द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य उसके मुक्ति स्वी मार्ग में सहायक होता है, बाधक नहीं।

अतः कर्म करना जीवन्मुक्त के लिए भी आवश्यक होता है क्योंकि शरीर के छूटने तक उसे संसार में रहकर जोषिका भी चलानी होती है। ये दोनों मन्त्र भी ब्रह्मज्ञ की कार्यशीलता पर जोर देते हैं।

राधाकृष्णन के अनुसार ब्रह्म प्राप्ति की अवस्था मानसिक रूप से पूर्णता की स्थिति है जब हृदय तथा मन में स्थित समस्त इच्छाएँ छोड़ दी जाती हैं। तब मृत्यु स्वभाव वाला मनुष्य ब्रह्ममय होकर अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। यह स्थिति कोई भविष्य आगामी स्थिति^{स्वी} बल्कि मनुष्य कभी भी विरक्त भाव से प्रयत्न करके प्राप्त हो सकता है।

जन्म और मृत्यु तो काल से आवृत्त होने के कारण बंधनकारी हैं। परन्तु मोक्ष की स्थिति तो शुद्ध चैतन्यावस्था है। उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। उसे किसी प्रकार का सांसारिक भ्रम न रहने के कारण किसी प्रकार के दुःख सुखादि नहीं होते हैं।

1- He who knows Brahman becomes Brahman, perfection is a state of mindin God who is the foundation and power of life.

The Principal Upanishads
Introduction

Radhakrishnan
P 118-119

श्री अरविन्द के मत में आत्मज्ञ के लिए सब कुछ आनन्द मय हो जाता है क्योंकि वह स्वयं ही सच्चिदानन्द होता है। तो फिर आनन्द के सम्मुख शोक मोह आदि के विपरीत भावों के लिए तो कोई स्थान ही नहीं है। वह आनन्द भी कोई सांसारिक आनन्द नहीं होता, बल्कि निरतिशय आनन्द की अवस्था होती है। जब आत्मज्ञ सबको एकत्व भाव से आनन्दमय स्वल्प में ही स्थित देखता है तो फिर उसे शोक अथवा मोह क्यों होगा ? उसके लिए तो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द होगा।²

10. ब्रह्मज्ञ के देहपात की प्रक्रिया:-

जन्म और मृत्यु के आवागमन का कष्ट सृष्टि का सबसे बड़ा दुःख है। परन्तु जो पुण्य जीवन में बरतते हुए ही, जीवन्मुक्ति की स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं। उनके लिए देह में बरतने पर भी यह संसार असार हो जाता है। समस्त शारीरिक तथा सांसारिक व्यापार करने पर भी वह व्यक्ति आसक्ति रहित तथा पाप-पुण्य से परे होता है और जब उस ब्रह्मज्ञ का देहपात हो जाता है तो उसकी विदेह मुक्ति हो जाती है। वह सर्वप्रकारेण अपने परमतत्त्व में लय हो जाता है।

ईशापनिषद् के अन्तिम दो मन्त्रों में साधक मरणासन्न अवस्था में पंच भूतों से निर्मित इस स्थूल शरीर के उन्हीं में विलय होने की प्रार्थना करता है। और कहता है कि हे वायु ! मेरे प्राण तुम अपने तत्त्व में लय हो जाओ और स्थूल शरीर भस्म हो जाये। यही बात-बृहदारण्यकोपनिषद् में कही गई है कि

2. There is no possibility of self delusion.....
.....They are the appearances.

The Upanishads

Sri Aurobindo

P.93

1- वायुरद्वितममृतमधेदं भस्मांतं शरीरम् ।

उं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥ १७

-ईशावास्योपनिषद्, १७

ब्रह्मज्ञ के प्राणादि (वाकादि इन्द्रिया) मृत्युपरान्त उत्क्रमण नहीं करते हैं। वे इस परमब्रह्म परमात्मा में ही अमर को प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् अन्य अज्ञानी प्राणियों के इन्द्रिया आदि अपने सूक्ष्म भूतों में लीन होते हैं। परन्तु इसके विपरीत आत्मज्ञानी के (पंचमहाभूत) भूत एवं इन्द्रिय वर्ग अपनी पारमार्थिक सत्ता में ही विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार समुद्र में लहरे विलीन हो जाती हैं। विदेहमुक्ति के अनन्तर ब्रह्मज्ञ सम्पूर्णतया परमात्मा में एकीभूत होकर, परमानन्द सच्चिदानन्द में स्थित हो जाता है। और उसके दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

आचार्य शंकर के अनुसार ऐसा केवल्य प्राप्त पुत्र फिर संसार में नहीं आता है। ब्रह्मभूत हो जाने पर अर्थात् आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाने पर साधक फिर इस कष्टों से भरे संसार में नहीं आता है। क्योंकि ब्रह्म और आत्मा के एकत्व स्वी ज्ञान के कारण उस आत्मज्ञ की शरीरादि समस्त उपाधिया ज्ञानरूप अग्नि से दग्ध होकर, भस्मभूत अर्थात् परम तत्त्व में लीन हो जाती है। उस ब्रह्मवैत्ता का तो शरीरादि सभी कुछ उस एकमात्र परमसत्ता में विलीन हो जाता है। वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। तो फिर ब्रह्म का जन्मादि कैसे हो सकता है? क्योंकि वह तो अब अनन्त, अखण्ड, असीम, अद्वितीय अगोचर है। जन्म तो आदि अन्त वाली वस्तुओं का होता है। जब वह तो अनाद्यन्त है। उसके लिए तो जोवन मृत्यु कुछ भी नहीं है। यह तो भ्रम के कारण अज्ञानियों के ही होते हैं। जो अज्ञानी आत्मा को न पहचान कर, संसार में एषणापूर्ति के लिए ही कर्म करते हैं। वे कर्मजन्य संस्कारों के कारण उन्हीं योनियों में जन्म लेते हैं। जो उसके कर्मों के परिणामस्वरूप उसके लिए उचित होती हैं। ब्रह्मज्ञ तो स्वयं ही ज्ञान स्वत्प है। फिर उसके जन्म का तो प्रश्न ही

१- नैति होवाच याज्ञत्वयो नोत्क्रामन्ति अत्रैवास्मिन्नेवपरेणात्मना

विभागं गच्छन्ति । विदुषि कायणि करणानि च स्वयोगे परब्रह्म-
सतत्रे समवसी यन्ते एकीभावेन समवसृज्यन्ते, प्रतीयन्ते उर्मय
इव समुद्रे । ३ २ ॥, बृहदारण्यकोपनिषद् .

नहीं उठता है । यह समस्त संसार भी तो ब्रह्म की ही प्रतीति है । फिर इसका कोई जन्म अथवा मृत्यु नहीं है । परन्तु मूढ़ पुत्र अपनी अज्ञानावच्छिन्न बुद्धि के कारण इस सत्य को नहीं पहचान पाते हैं । और निरन्तर कूट उठाते रहते हैं ।¹

इसके दूसरे ओर श्री अरविन्द मुक्त आत्माओं की स्थिति संसार में मानते हैं । उनके अनुसार मुक्त आत्माएँ भी मुक्ति के उपरान्त जन्म लेती हैं । परन्तु वे पूर्वजन्म के संस्कारों के फलस्वरूप नहीं, बल्कि स्वेच्छापूर्वक संसार के कल्याणार्थ संसार में आती हैं । तथा अन्य सांसारिकों की भाँति संसार में विचरण करती हुई, अपने मानवीय गुणों से उन आत्माओं को मुक्ति के लिए प्रेरित करती हैं, जो अभी मुक्त नहीं हैं ।² अतः श्री अरविन्द का ब्रह्मज्ञ पुत्र केवल्य मुक्ति के उपरान्त भी संसार के कल्याणार्थ जन्म लेता है । और दैहिक कूटों को भोगता है । समस्त सांसारिकों धर्मों का निर्वहण करते हुए भी अपने मूल तत्त्व में ही निरत रहता है ।

1- यदिदं सक्तं विश्वं नानार्थं प्रतीतमज्ञानात् ।

तत्सर्वं ब्रह्मेव प्रत्यस्ताशौभावनादोष्म ॥ 229

विवेक-चूड़ामणि- शंकराचार्य मन्त्र 229

2- After liberation the soul is free, but may still participate in the entire movement and return to birth but no longer for its own sake but for the sake of others and according to the will in it of its Divine self, the lord of the movement.

The Upanishads-Sri Aurobindo, P.119

जीवन्मुक्त को जब सौंडहमस्मि अथवा अहं ब्रह्मास्मि की प्रतीति होने लगती है, वही जीवमुक्ति की अवस्था है। इस स्थिति में वह समस्त दर्शन के कारण सब में आत्मा का दर्शन करता हुआ सूर्य चन्द्रादि में भी उसी ब्रह्म का अवलोकन करता है। ईशाओपनिषद् के सौतहमें मन्त्र में जीवन्मुक्त सूर्य की उपासना करता हुए कहता है संसार का भरण पोषण करने वाले। एकाकी गमन करने वाले। हे यम (संसार को नियमित रखते वाले) प्रजापति के पुत्र सूर्य तू अपनी संतप्त करने वाली किरणों को समेटकर, अपने सुखदायी कल्याणमय रूप को मेरे सम्मुख प्रकट कर क्योंकि तेरा जो कल्याण मय स्वरूप है वह मैं ही हूँ।

इस अवस्था के पहुँचने के उपरान्त जीवन्मुक्त को विदेह मुक्ति होती है। और वह सर्वस्वेण अपने मूल तत्त्व परमात्मा में लीन हो जाता है। इस विदेह मुक्ति के विषय में ईशाओपनिषद् में सत्रहवाँ मन्त्र कहा गया है। इसमें जीवन्मुक्त पुत्न, पुत्न शरीर का व्यवधान हटाने की कामना करता हुआ कहता है, इस समय मेरा प्राण अपने मूल तत्त्व अमृत स्वरूप वायु में विलीन हो जाये यह शरीर भस्मसात् हो जाये। पुनः ॐ कार वाचन करता हुआ कहता है कि मेरे संकल्प विकल्प करने वाले मन अब अपने किये हुए का पुनः पुनः स्मरण कर। क्योंकि मृत्यु ही वह अंतिम सीमा है। जहाँ से फिर ब्रह्मलीन ब्रह्म ही हो जाता है।

इस मन्त्र की व्याख्या में आचार्य शंकर ने अग्नि की सत्यस्वरूप ब्रह्म संज्ञक माना है। वे कहते हैं कि ओंकार तो ब्रह्म का ही वाचक है। अतः हे मेरे मन इस मृत्युकाल में भी तू पुनः पुनः अपने अभीष्ट का ही स्मरण कर। अर्थात् तू अमृत्यु की प्राप्ति हुआ मृत्युकाल में भी भयभीत न हो, केवल ब्रह्म का ही स्मरण

१- पूजन्नेकं यम सूर्यं प्राजापत्यं च यूह रश्मी-समूहं तेजो
यत्ते कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ
पुत्न सौंडहमस्मि । १६

ईशावास्योपनिषद्, १६

कर । क्योंकि वही परमात्मा परमानन्द सर्वाधिक प्रिय और अभीष्ट है ।¹

श्री अरविन्द के अनुसार संसार में क्रियाशील जो चैतन्यतत्त्व है वह इच्छा शक्ति ही अग्नि है । उनके मत में मरणासन्न पुष्प उस इच्छाशक्ति को सम्बोधित करके कहता है कि हे इच्छा शक्ति । तेरे द्वारा भूतकाल में जो कर्म किये गये इस समय इस अवस्था में तू पुनः पुनः उनका स्मरण कर । प्राचीन समय में किये गये कर्तव्यों को मनुष्य भूल जाता है । परन्तु उनके अटल संस्कार ही उसके लिए दुःख और क्लेश के कारण होते हैं । अतः तू बार-बार अपने कर्मों का स्मरण कर । प्रायश्चित्त कर । ज्ञान और प्रायश्चित्त करने से सभी पाप निष्पन्न हो जाते हैं । और व्यक्त निष्काम भाव को प्राप्त हो जाता है । जिसमें फिर उसके चित्त में किसी प्रकार की कोई कामनादि अहंकारी भाव न रहने के कारण वह स्वयं ब्रह्म स्वल्प हो हो जाता है ।²

इस मन्त्र से आगे अठारहवें मन्त्र में भी जीवन्मुक्त पुनः पुनः अग्नि की प्रार्थना है कि हे अग्नि तू हमें सुन्दर श्रेष्ठ मार्ग से ले चल । तू हमारे सभी कर्मों तथा ज्ञान का ज्ञाता है । तू हमारे समस्त पापों को तथा बुरे कर्मों का नष्ट कर

१- वायुरनिलममृतमयेदं भस्माल्ति शरीरम्

ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर कृतो स्मर कृतं स्मर ॥ १७

ईशावास्योपनिषद्, १७

2- This will is Agni. Agni is in the Rg.veda from which closing verse of the Upanishad is taken, the flames of the divine will of force of consciousness working in the world.

दे जिससे कर्म संस्कार न होने के कारण हम संसार मार्ग से निवृत्त हो जाये ।¹

आचार्य शंकर ने अग्नि को ब्रह्म का स्वल्प संज्ञक माना है । क्योंकि अग्नि ही ऐसा तेज है जो मनुष्य की समस्त कुटिलताओं और क्लृप्तिताओं का नाश करके उसे अमृतत्व के योग्य बनाता है । यह अग्नि कोई दूसरा पदार्थ नहीं बल्कि स्वयमेव ब्रह्म ही है ।²

इसीलिए इस उपनिषद् के कई मन्त्रों में अग्नि को उपासना की गई है । क्योंकि अग्नि ही ऐसा तेज है । जिससे सारी अशुद्धता नष्ट होकर मूल शुद्ध तत्व ही शेष रहता है ।

श्री अरविन्द पुनः पुनः कर्मों का स्मरण कराकर शायद जीव-
=मुक्त के उन कर्मों की ओर संकेत करते हैं जो उसने जीवन्मुक्ति से पूर्व अज्ञाना-
वस्था में किये हैं । अतः उनका पुनः पुनः स्मरण करने से ब्रह्मज्ञान रुपी अग्नि में
वे जल कर भस्म हो जाते हैं । और पुरुष अपने निर्विकार निर्विशेष स्वल्प में
स्थित हो जाता है यही मोक्ष है । तथा मानव जीवन का परम लक्ष्य है ।

1- ओमिति यथोपासनं प्रतीकात्मकत्वात्सत्त्वात्मकव्याख्यं ।

ब्रह्ममेवेनोच्यते । हे क्रतो/संस्त्वात्मक/स्वर यन्मम्

स्मत्तुर्व्यं तस्य कातोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर-----

-क्रतो स्मर,कृतं स्मरेति । पुनर्वचनमादरार्थम् ।

इशावास्योपनिषद्-मन्त्र 17 शंकर भाष्य ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मलीन पुरुष का सांसारिक जीवन भी अन्य अज्ञानी सांसारिकों से उच्च कौटि का ही जाता है। वह सर्वत्र आत्मा का ही दर्शन करता है। किसी दूसरी वस्तु को देखने का उसका भ्रम ज्ञान से छिड़ित हो जाता है, अन्यत्व की अनुपलब्धि के कारण वह प्रत्येक प्राणी के साथ समान भाव तथा आवरण वाला होता है। उसे समस्त भूत समुदाय में आत्मा दिखाई देती है, तथा समग्र विश्व आत्मा में ही विलीन दिखाई देता है। उसके लिए जाति-योनि, सब सांसारिक विभाग निरर्थक हो जाते हैं। उस ब्रह्मज्ञ को तो साधन के अन्धे के समान ब्रह्मज्ञ से लेकर हाथी, चाण्डाल, कुत्ते, गौ अथवा श्रेष्ठ और निकृष्ट प्राणी में सर्वत्र समत्व दर्शन के कारण आत्मा का ही दर्शन होता है।

इस समत्व दर्शन के कारण ही उसके हृदय में ईर्ष्या, राग, द्वेष, विषाद, शोक अथवा अन्य अहंकारी भावों के लिए कोई स्थान नहीं होता है। दिव्यत्व का अभाव ही तो ब्रह्मप्राप्ति है। जब वह अपने से दिव्यतीय कुछ देखता ही नहीं तो प्रेम, स्नेह, क्षुणा, व्याकुलता किसके लिए किस प्रयोजन से अनुभव करेगा? उसके लिए तो सर्वत्र एक मात्र ब्रह्म की सत्ता होती है और वह स्वयमेव ब्रह्म ही है। तो वह क्यों कर ऊँच-नीच के भाव से ग्रसित होगा? उसके लिए तो एक वही स्वयं है। तो क्या वह स्वयं से ही क्षुणा, द्वेष करेगा? ऐसा इह लोक में भी असम्भव है। कोई भी क्षुणा आदि अपने से भिन्न पदार्थ से ही होती है। स्वयं से नहीं। अतः ब्रह्मज्ञानी के लिए यह समस्त संसार भी ब्रह्म ही है। और द्वैत का अभाव ही आनन्दस्थिति और मोक्ष को प्राप्ति है।

१- विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शूनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८

श्रीमद् भगवद्गीता, ५, १८

अध्याय-चतुर्थ

** जीव, जगत् और ईश्वर **

-----+ अध्याय - चतुर्थ :- जीव, जगत् और ईश्वर -----

जीव, जगत् और ईश्वर इन तीन सत्ताओं के चतुर्दिक ही प्रायः दार्शनिक सिद्धान्त विवरण करते हैं। आस्तिक दर्शनों में तो अधिकांशतः इन्हीं तीन तत्वों के बारे में विचार विवेचन है। ये ही तीन मूलभूत सत्ताएँ हैं। इन तीनों का ज्ञान ही दर्शन (आस्तिक) का मूल उद्देश्य है।

वेदान्त तथा उपनिषद् दर्शनों का तो ये सर्वस्व मात्र हैं। वेदान्त में समग्र दर्शन इन तीन सत्ताओं से ही आरम्भ होता है, तथा इन्हीं तीनों में एकीकरण होने पर समाप्त हो जाता है। उपनिषदों का मूल विषय होने से ये तीनों कर्मकाण्ड के विषय नहीं हैं। इन तीनों का सम्बन्ध मनुष्य के भीतर रहने वाली अदृश्य सर्वशक्तिमान् सत्, चित्, आनन्द स्वल्प चेतना से है।

ईशोपनिषद् का प्रथम शब्द ही ईश्वर शब्द का वाचक है। इस उपनिषद् में परमतत्त्व वा ईश्वर का विशद् विवेचन तो नहीं है, परन्तु संकेत शब्दों से ही बहुत कुछ स्वल्प बताया गया है। तथा जगत् को ईश्वर का आवास बताकर कुछ संकेत जीव तथा जगत् दोनों के बारे में दिया गया है। ईशोपनिषद् में स्पष्ट रूप से इन तीनों का सम्बन्ध न दर्शाकर, तात्पर्य के द्वारा इनका सम्बन्ध तथा स्वल्प बताया गया है।

ईशोपनिषद् में इनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व अथवा एकीकृत सम्बन्ध विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने सिद्धान्त तथा तर्कों के आधार पर माना है, और उपनिषद् के अनुसार इनकी स्वल्प व्याख्या की है।

1.-तीन मूल सत्ताएँ -

जीव, जगत् और ईश्वर ये तीनों ही स्वयं में भिन्न-भिन्न मूल सत्ताएँ मानी गई हैं। तीनों का पृथक्-पृथक् अपना अस्तित्व और महत्त्व है। आचार्य शंकर ने व्याख्यान में इन तीनों को पृथक्-पृथक् माना है। विवेक-बुद्धिमणि में उन्होंने संसार को एक ब्रह्म के सदृश माना है। तथा जीव को उस

पक्षी के समान माना है जो कि संसार स्पी वृक्ष के फलों का भोजता है । उनके अनुसार संसारस्पी वृक्ष का बीज अज्ञान है, देहात्मबुद्धि उसका अंकुर है, राग पत्ते हैं, कर्म जल है, शरीर तना है, प्राण शाखाएँ हैं, इन्द्रिया उपशाखाएँ हैं विषय पुष्प हैं और नाना प्रकार के कर्मों से उत्पन्न दुःख दुःख फल है, तथा जोव स्पी पक्षी इनका भोजता है । इस तरह समस्त जगत् प्रपञ्च से पक्षी स्पी जोव भिन्न है । उसका स्वल्प वृक्ष से भिन्न है ।

इस उदाहरण मन्त्र के अनुसार आचार्य शंकर ने जोव से जगत् का भिन्नत्व माना है । क्योंकि किसी भी जड़ संग्रह का भोजता चेतन तत्त्व होता है । अतः जोव चेतन है, और जगत् जड़ है । दोनों में भोग्य और भोजता का सम्बन्ध है ।

परमात्म तत्त्व को ही आचार्य शंकर ने एक मात्र सत् तत्त्व माना है । वही सत्य है, उससे इतर सब कुछ मिथ्या है । अतः जगत् भी मिथ्या है । परमात्मतत्त्व तो अखण्ड, असीम, अनन्त, अगोचर और अनिर्वचनीय स्वल्प वाता है । उससे किसी के भेद-अभेद का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता है ।

दूसरी ओर ईशाोपनिषद् के ईशा शब्द का प्रयोग शासनार्थक है । सबका ईशान् अर्थात् शासन करने वाला ही ईश्वर होता है । अतः ईशावास्य पद से यही तात्पर्य है, कि वह ब्रह्म इस समस्त विश्व का शासक है । इसलिए

१- बीजं सृष्टिभूमिजस्य तु तमो देहात्मधोरङ्कुरौ,
रागः पल्लवमम्बु कर्म तु वपुः स्कन्धोऽसवः शाखिकाः ।
अग्राणीन्द्रियसङ्कृतिश्च विषयाः पुष्पाणि दुःखं फलं,
नानाकर्मसमुद्भवं बहुविधं भोजतात्र जोवः खगः ।

विवेक बूडामणि-शंकराचार्य, बंधनित्पण, १४७

यह तो स्पष्ट है, कि शासक और साम्राज्य में विभेद होता है। यदि ईश्वर शासक है तो निश्चित त्प से वह अपने शासित संसार से भिन्न स्वत्प वाला होना चाहिए क्योंकि शासित और शासक कभी भी एक नहीं हो सकते। शासित से शासक उच्च और ऊँठ होता है।

उपनिषद् के तृतीय पद में भी 'तेन त्यक्तेन' 'भुज्जीधा' से ब्रह्म और जगत् की भिन्नता ही परिलक्षित होती है। इस पद से स्पष्ट है कि जीव संसार से भिन्न तत्त्व है। संसार विषय त्पी जड़ संग्रह है और चैतन जीव उसका भोवता है, अतः इस मन्त्र में त्याग पूर्वक संसार के उपभोग की बात से यह बिल्कुल स्पष्ट है, कि संसार और जीव दो भिन्न स्वत्प वाले पृथक् तत्त्व हैं। जीव संसार का भोवता है, दोनों के बीच जड़-चैतन, विषय-विषयी, भोग्य-भोवता का सम्बन्ध है। परन्तु दोनों की सत्ताएँ अलग-अलग हैं।

तीसरे तत्त्व के विषय में तो कोई शंका ही नहीं है क्योंकि वह स्वयं प्रकाश चैतन्यस्वत्प स्थिति निर्लिप्त, अक्षर अधिकारी है। अतः उसकी सत्ता तो एक मात्र स्वयंसिद्ध है।

(2) तीनों के बीच तात्मेल की समस्या :-

आचार्य शंकर ने इन तीनों सत्ताओं को व्यावहारिक पृथक्-पृथक् माना है परन्तु उनके उपरान्त श्री अरविन्द ने इन तीनों को एक ही तत्त्व माना है। तथा इनका एकीकरण किया है। यद्यपि आचार्य शंकर भी तीनों की सत्ताओं में तात्मेल करके एक ही बताते हैं। फिर भी उपर से देखने पर उनके सिद्धान्त में यह पृथक्ता ही दिखाई देती है। वे जगत् को मिथ्या कहकर उसकी प्रातिभासिक सत्ता मानते हैं। परन्तु विवेक-बुद्धिमणि में वे इन तीनों को एक त्प बताते हुए कहते हैं कि जैसे मिट्टी त्पी कारण के घटादि कार्य देखने पर मिट्टी से भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु मूल त्प में तो वे मृत्तिका ही हैं। उसी प्रकार एक मात्र सत्स्वत्प ब्रह्म से उत्पन्न हुआ यह जगत् भी सत्स्वत्प ही है। क्योंकि सत् से परे कुछ भी नहीं है तथा वही सत्य है, वही स्वयम् आत्मा है, इसलिये है शिष्य ! जो शंका, निर्मल और अद्वितीय ब्रह्म है, वह तुम्ही

हों । शिष्य से तात्पर्य यही जीव से है ।

इस प्रकार यद्यपि आचार्य शंकर भी वास्तव में तीनों को एक मानते हैं । परन्तु श्री अरविन्द ने इनमें किसी प्रकार का कोई विभेद नहीं माना है । उनके अनुसार ईश्वर की अनेकात्मकमिव्यक्त ही जगत् है । तथा अपने सच्चिदानन्द स्वल्प में प्रतिष्ठित होना ही ज्ञान स्वल्प ब्रह्म है । वह मात्र एक तत्त्व है, जिसका सर्वत्र दर्शन होता है । संसार के कण्ठमें वह व्याप्त है ।²

इसी बात को ईशापनिषद् के प्रथम मन्त्र में 'ईशावास्यमिदं सर्वं' से कहा गया है कि यह इस संसार में जो कुछ भी है, वह सब ब्रह्म ही है । ब्रह्म की सत्ता से व्याप्त है । ब्रह्म से आच्छादित है । इस प्रकार इस पाद से ब्रह्म और जगत् के एकत्व की प्रतीति होती है ।

- 1- मृत्कार्यं सफलं ष्टादि सततं मृन्मात्रमेवाभितः ,
तद्वत्सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवास्तितम् ।
यस्मान्नास्ति सतः परं किमपि तत्सत्यं स आत्मा स्वयं,
तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥

आचार्य शंकर-विवेक चूड़ामणि, 253

- 2- It is the same Lord who dwells in the sum and the part, in the cosmos as a whole and in each being, force or object in the cosmos, since he is one and indivisible the spirit in all is one and the their multiplicity is a play of his cosmic consciousness.

इस मन्त्र का विश्लेषण करने से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् भाव के अनुसार जीव, जगत् और ईश्वर नाम से पृथक्-पृथक् दिखाई देने वाली तीनों सत्ताएँ अपने मूल स्वरूप में एक ही हैं। मन्त्र के अनुसार समस्त विश्व ईशान आभास है। अर्थात् ईश्वर से व्योप्त है। जब विश्व ईश्वर से व्योप्त है, तो जीव भी उसी सत्ता के अंश है, अतः तारतम्य से तीनों एक ही सत्ता का पृथक्-पृथक् दर्शन मात्र है।

इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट रूप से श्री अरविन्द ने अखरीट का उदाहरण देकर समझाया है। जिस प्रकार अखरीट का ऊपरी भाग कठोर होकर उसका आवरण बनकर 'गिरी' को ढके रहता है और उससे भिन्न दिखाई देता है। ठीक उसी प्रकार ईश्वर भी अपने ही स्वरूप विश्व को अपने ही आवरण से आच्छादित रखता है। जिस प्रकार समस्त पदार्थ अखरीट कहलाता है। बाहर भीतर कोई भेद नहीं होता है। दोनों तत्त्व एक ही पदार्थ होता है। उसी प्रकार एक ही ब्रह्म जगत् और ईश्वर दो रूपों में प्रतीत होता है।² इस छण्ड में श्री अरविन्द ने ईश्वर के उपाधि रूप में जगत् को माना है, कि जब ईश्वर उपाधि सम्पन्न होता है, तो उसकी जगत् रूप अभिव्यक्ति होती है। परन्तु उपाधि हीन या उपाधि युक्त होने से उसके वास्तविक स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अपने मूल रूप में तो वह सत् चित् आनन्द ही है।

1-

Let us consider a Nut with the Kernel in it, we see that Ether in the form of Upādhi of the Nut surrounds ether in the Upādhi of the Kernel as a robe surrounds its wearer, but the two are the same; there is one ether not two.

ईशोपनिषद् के छठे¹ और सातवें² मन्त्रों में जो सर्वत्र भगवद् दृष्टि का उपदेश किया गया है, वह भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है कि अज्ञान-वच्छिन्न बुद्धि के कारण ही मनुष्य जीव जगत् और ईश्वर तीन रूपों को देखता है। और यही संसार रूपी बंधन है। परन्तु जब व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न हो जाता है तो उसको जीवनमूर्ति ही जाती है। और उसे फिर सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म का दर्शन होता है। प्रत्येक^{परम} उसे ब्रह्ममय दिखाई देता है। किसी सांसारिक पदार्थ अथवा जीवों को वह परमतत्त्व से विमुक्त नहीं देखता है। और यही व्यक्ति को परमगति है। जब तीनों जीव, जगत् और ईश्वर के बीच की अज्ञान निर्मित दीवार ज्ञान के द्वारा टह जाती है और तीनों एक रूप ही जाते हैं वही जीवन के लक्ष्य प्राप्ति को चरम अवस्था है। तो यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि ईशोपनिषद् का सिद्धान्त जीव, जगत् और ईश्वर तीनों के एकीकरण के सिद्धान्त का समर्थक है। न कि जगत् को मिथ्या कहकर महत्त्वहीन करने का। यदि जगत् महत्त्वहीन है तो फिर ब्रह्म भी महत्त्वहीन ही जायेगा। अतः तीनों में कोई भेद नहीं है। तीनों एक ही हैं।

3- कर्मपूर्वक ही दीर्घ जीवन की संभावना-

ईशोपनिषद् की एक विशेषता है कर्म और ज्ञान का समुच्चय। इसी विशेषता के कारण इस उपनिषद् का दृष्टिकोण व्यापक है। प्रायः ज्ञान को ही ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग माना गया है, और कर्म की अवहेलना की गई है। परन्तु ज्ञान के लिए भी शरीर का होना आवश्यक है और शरीर के लिए कार्यशीलता का। उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ही संसार के उपभोग की बात

1- यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । 6

2- यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।

तत्र को मोहः । कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।। 7

ईशावास्योपनिषद्- 6, 7

कहो' गई है कि त्याग भाव से समर्पण पूर्वक संसार का उपभोग करना चाहिए।
ध्मेच्छा अथवा लोभ लालच आदि विकारों से ग्रसित नहीं होना चाहिए ।

द्वितीय मंत्र में पूर्णत्वेण कर्म सिद्धान्त की प्रतिस्थापना की गई है कि कर्म करते हुए यदि मनुष्य सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे, तो भी ऐसे पुत्र को कर्म लेप नहीं होगा ।² अर्थात् यदि पुत्र वस्तुओं के प्रति त्याग से ईश्वर के प्रति समर्पित होकर अपने जीवन धर्मों का निर्वहण करते हुए, यदि सौ वर्ष जिये, तथा कर्मशील रहे, तब भी उस पुत्र को कर्मबंधन नहीं होगा । यही एकमात्र ऐसा मार्ग है, जिससे कर्म करने पर भी कर्मबंधन नहीं होता ।

आचार्य शंकर ने इस मंत्र को अज्ञानियों के कल्याणार्थ बताया है । परन्तु अज्ञानी कर्म करे और बंधन न हो, यह तो सर्वथा असम्भव ही है । श्री अरविन्द ने इस मंत्र से ही उपनिषद् के कर्म सिद्धान्त की परिपुष्ट किया है तथा इसका सम्बन्ध नवें मंत्र से लेकर चौदहवें तक के मंत्रों जोड़ा है । वे 'कुर्वन्नेवेह' शब्द पर जोर देते हुए कहते हैं कि मात्र इस लोक में कर्म करने से ही यह सम्भव है कि पुत्र को किये गये कर्मों का संस्कार और बंधन न हो । सम्भवतः यही एक मात्र ऐसा मार्ग है, जो अज्ञानी इह लौकिक पुत्रों के लिए भी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है ।³

1- ईशावास्यामिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्याम् जगत् -

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ 1

2- कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा ।

एवं त्वमि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ 2

-ईशावास्योपनिषद्, 1, 2.

3- Doing verily works in this world one should wish to live a hundred years. Thus it is in thee and not otherwise than this, action cleaves not to a man.

उपनिषद् के किसी भी मंत्र में सन्यास अथवा संसार छोड़ने की बात नहीं कही गई है। आगे अन्य मंत्रों में भी कर्म और ज्ञान के सम्यक् समुच्चय से ब्रह्मप्राप्ति का उपदेश किया गया है। बल्कि कर्म को ज्ञान की पूर्वावस्था मानकर :-

“ अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतमश्नुते । ” कहा गया है। पहले पुण्य-कर्मों के द्वारा इस संसार (चित्त्वृत्तियों तथा एषणाओं) का परित्याग करके मृत्यु के भय से परे होकर ज्ञान से ब्रह्म प्राप्ति स्वी अमृत का पान करना चाहिए। एक के अभाव में दूसरे से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि ब्रह्म की गतिशीलता तथा अनेकात्मकाभिधायित्व ही संसार है तथा असीम्, अटल, अगोचर स्वल्प में स्थिति सच्चिदानन्द स्वल्प है। इसलिए ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उसके दोनों पक्षों का ज्ञान हो। यदि एक पक्ष ज्ञान को ही लिया जाये तो वह तो और भी अधिक अन्धकार की स्थिति होगी। अतः कर्म और ज्ञान अथवा अविद्या व विद्या दोनों का समन्वय करके ही अपने लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।¹

4- कर्म जीव और जगत् के बीच संबंध सूत्र :-

जीव का जगत् से सम्बन्ध है। दोनों ही देश-काल को सीमा में आबद्ध है। जगत्-जीवात्माओं की क्रियाशीलता का क्षेत्र है। जगत् में आकर जीवात्माएँ पाप-पुण्य कर्म करती हैं। तदन्तर अपने-अपने कर्म फल भोग के अनुसार योनियां ग्रहण करती हैं। यह संसार एक मंच के समान है जहाँ आकर प्रत्येक जीवात्मा को उस परम पुष्प द्वारा सौंपे गये कार्य का सम्पादित करना होता है।²

1- छेओपनिषद्, 9, 12

Realise therefore that all these around you wife, children, Friends, Enemies, men, Animals, Animate things and inanimate are in you; the universal mind, like actors on a stage.....

The Upanishads

Sri Aurobindo. P. 481

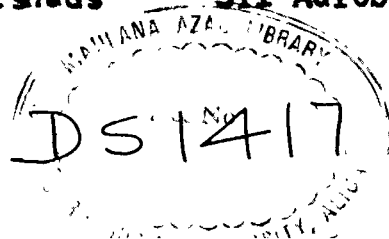
द्वितीय मन्त्र में आये 'स्व' शब्द का आशय भी कर्मों पर जोर देने से है। कि कर्म करते हुए ही, उनसे पलायन करते हुए नहीं। इस संसार में सौ वर्ष तक जीने की कामना करनी चाहिए। अतः स्पष्ट है कि जगत् में जीवित रहने के लिए कर्म अपरिहार्य है। आचार्य शंकर द्वारा मान्य सन्यासी भी पूर्ण-स्वेण कर्मविमुक्त नहीं हो सकता। सन्यासी को भी जीवित रहने के लिए तथा लक्ष्य के माध्यम शरीर को अस्तित्व में रखने के लिए आवश्यक कर्म तो करने हो पड़ते हैं। शरीर ही ज्ञान का उचित माध्यम है। अशरीरी को तो ज्ञान-अज्ञान का प्रश्न ही नहीं होता। तथा कर्मों के अभाव में जीवन असम्भव है। जीवन का सबसे महत्वपूर्ण कर्म श्वास क्रिया है। यदि उसे भी कर्म मानकर न किया जाये, तो जीवन ही समाप्त हो जायेगा। भोजन, उत्सर्जन आदि भी श्वास के समान ही आवश्यक हैं। अतः उनको भी नहीं छोड़ा जा सकता। उनका त्याग करना मृत्यु ही है।

परब्रह्म ने भी अपने मौलिक सच्चिदानन्द स्वस्व को तिरोभूत करके क्रियाशीलता स्वी गुण का आश्रय मानकर ही, इस वराचर जगत् का सृजन किया है। क्रिया के द्वारा उत्पन्न यह जगत् की अवश्यमेव क्रियाशील होना चाहिए। अतः यह क्रियाशीलता की भूमि है। यहाँ क्रियाशीलता के अभाव में एक पल भी जीवित नहीं रहा जा सकता है।

आचार्य शंकर द्वारा सम्मत कर्म और ज्ञान का विरोध 'पर्वद्वन्द्वित' नहीं, अपितु दोनों एक दूसरे की सम्पूरक अवस्थाएँ हैं। पुण्य कर्मों द्वारा चित्तवृत्तियों का त्याग करके निर्मल चित्त में ही ब्रह्म का ज्ञान उचित तरह हो सकता है। अतः कर्म की अवहेलना नहीं की जा सकती।

1 - Doing works indeed, and not refraining from them.

The Upanishads Sri Aurobindo P.65



(5) आत्मोत्थान का महत्त्व -

जीव और जगत् का सम्बन्ध सूत्र कर्म है यह बात तो ईशोपनिषद् से ही स्पष्ट है। तथा जीव और परमात्मा का सम्बन्ध उपनिषद् में ' ' यो असावसौ पुत्रः सोऽहमस्मीति ' ' इस प्रकार बताया गया है, अर्थात् अपनी आत्मा का ज्ञान हो जाने पर साधक को यह प्रतीति हो रही है कि जो वह परम पुत्र है वह मैं ही हूँ। इस प्रकार उपनिषद् आत्मा-परमात्मा के एकत्व का विवेचन करता है।

केनोपनिषद्² भी इसी प्रकार दोनों को एक बताता है। अन्य उपनिषदों में भी विभिन्न त्पकों तथा दृष्टान्तों के द्वारा इस समस्या का समाधान करने का प्रयास किया गया है।³ परन्तु ईशोपनिषद् में तो स्पष्ट त्प में दोनों का एकत्व है। अतः जो विशिष्टताएँ परमात्मा की बताई गई हैं वे आत्मा में भी अवश्यम्भवी होनी चाहिए। अतः इस उपनिषद् के अनुसार आत्मा भी नित्य शुद्ध बुद्ध शाश्वत, अविकारी, अनन्त, असीम, प्रकाश स्वत्प है। दोनों के एकत्व के कारण आत्मा का ज्ञान ही परमात्मज्ञान है। दोनों में भेद दर्शन ही बंधन है तथा 'सोऽहमस्मीति' की प्रतीति ही मोक्ष है।

1- पूषन्नेक्यै यम सूर्य प्राजापत्य ऋषूह रश्मीसमूह ।

तेजो यन्ते त्प कल्याणतमं तत्ते परमामि योऽसावसौ पुत्रः ।

सोऽहमस्मि । - ईशावास्योपनिषद्, 16

2- सर्वस्य हि वेदिषुः स्वात्मा ब्रह्मेति सर्वविदात्तानां सुनिश्चितोऽर्थः ।

शंकरभाष्य केनोपनिषद्, 2 .

3- द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिबस्वजते ।

तयोस्त्यः पिप्पलं स्वाद्वत्पनश्नन्त्यो अभिवाक्यतेति ।।

मुण्डकोपनिषद्, 3 । 1. ।

इस प्रकार आत्मा का स्वल्प ज्ञान ही परमात्मा का ज्ञान है ।
उपनिषद् में आत्मा की अवहेतना करने वाले पुत्रों की निन्दा को गई है ।
आत्मा का हनन किस प्रकार किया जाता है ? इस प्रश्न पर विद्वानों में
मतेभेद नहीं है । आत्मा कोई मूर्त पदार्थ तो है नहीं जिसे क्षति पहुँचायी
जाये अथवा जिसका नाश किया जाये, अपितु वह अनादि, अज, अनन्त, असीम
है । अतः साधारण अर्थ में तो आत्म हनन का आशय आत्मा की अवहेतना
ही होना चाहिए । जो व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न करते हों
सम्भवतः वे 'आत्म हनः' होते हैं ।

आचार्य शंकर के अनुसार जो अविद्वान् पुत्र अविद्या से ग्रसित
होने के दोष के कारण नित्यविद्यमान अमर अजर आत्मा के गुणों तिरस्कार
करते हैं । वे ही अविद्वान् आत्माहन्ता होते हैं । वे ही मृत्यु के उपरान्त
असुर लोको को प्राप्त होते हैं । अतः आत्मा का हनन नहीं करना चाहिए ।²

श्री अरविन्द 'आत्महन्ता' को व्याख्या शंकर की आलोचना करते हुए,
दूसरी प्रकार से करते हैं । उनके अनुसार उपनिषद् वाक्य का साधारण अर्थ है
कि जो लोग आत्महत्या अथवा किसी और कारण से अपने जीवन की सम्पूर्ण

1- असुर्या नाम वे लोका अन्धेन तमसावृताः ।

तौस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनीजनाः ।।

ईशावास्योपनिषद् , 3

2- आत्मनं घ्नन्ती त्यात्म हनाः । के ते जनाः येऽविद्वान् ।

कथं ते आत्मानं नित्यं हिंसन्ति । अविद्यादोषेण विद्यमानस्या-
त्मनः तिरस्करणात् विद्यमानस्य आत्मनी यत्कार्यं फलमजरामरत्वादि-
सर्वेदनशङ्का तद्वत्तस्यैव तिराभूतं भवतीति ।

प्राक्तापिहीनो जनाः आत्महन उच्यन्ते । तेन ह्यात्महननदोषेण
संसरन्ति ते ।

शंकर भाष्य- ईशावास्योपनिषद् , 3

आयु का उपभोग नहीं करते हैं तथा बिना मुक्ति प्राप्त किये ही जीवन का अन्त कर लेते हैं। वे ही मृत्यु के बाद विभिन्न योनियों में विवरण करते हुए असूर्य प्रकाशरहित लोको को प्राप्त होते हैं।

श्री अरविन्द ने आचार्य शंकर को भ्राति लोकों का तात्पर्य पृथ्वी लोक, स्वर्गलोक, नर्क लोक इत्यादि आशय से नहीं माना। अपितु वे लोक का अर्थ जीवात्मा की विभिन्न स्थितियों के रूप में करते हैं। उनके अनुसार इस पृथ्वी पर रहते हुए ही जीवात्मा अपने उत्कृष्ट पुण्य कर्म और निकृष्ट पाप कर्मों से विभिन्न प्रकार की स्थितियों रूप लोकों को प्राप्त हो सकती है। अतः जो लोग आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं करते बल्कि अज्ञानवशात् उसके माध्यम शरीर का ही निश्चित आयु भोगने से पूर्व ही नाश कर देते हैं वे लोग इसी संसार में ऐसी प्रकाश रहित योनियों को प्राप्त होते हैं। जहाँ से फिर ज्ञान रूपी प्रकाश की ओर वे अग्रसर नहीं होते हैं।

- 1.- The ordinary sense of the words gives a perfectly clear and consistent meaning. The Sruti tells us that it is no use taking refuge in suicide or the shortening of your life, because those who kill themselves instead of finding freedom, plunge by death into a worse prison of darkness. The Asuric worlds enveloped in blind gloom.
2. A world is not a place with hills and trees and stones but a condition of the Jivatman.

The Upanishads

Sri Aurobindo,

P.466

अतः जीव, जगत् और ईश्वर इन तीन तत्त्वों में से जीवात्मा परमात्मा का ही स्वल्प है तथा जगत् उसको कार्य भूमि है ।

(6) तीनों का एकीकरण ही परमलक्ष्य =

जीव, जगत् और ईश्वर इन तीनों पदार्थों के एकीकरण की स्थिति ही इस मानव जीवन का परमलक्ष्य है । उपनिषद् भाव के अनुसार जब जीवात्मा अपने मूल स्वल्प परमात्मा में विलय हो जाती है तथा साधक की जीवन्मुक्ति हो जाता है, उस अवस्था में उसे जगत् में किञ्चित्मात्र भी भिन्नता नहीं दिखाई देती । बल्कि सर्वत्र आत्मा का ही दर्शन वह करता है । जिसके फलस्वरूप उसे घृणा, द्वेष, शोक, मोहादि अहंकार जन्य विकारों का अनुभव नहीं होता । 4-2

जीवन्मुक्त पुरुष को सर्वत्र अपना ही स्वल्प दिखाई देता है, उसे कुछ भी स्वयं से अथवा आत्मा परमात्मा से भिन्न नहीं दिखाई देता । यही जीवकी सद्गति अथवा मोक्ष है । अतः इन तीनों का पृथक्-पृथक् दर्शन ही अज्ञान है, अविद्या है, संसार रपी माया जाल है । तीनों का अभेद हो जाने पर मात्र परमात्मा का ही दर्शन मोक्ष है, परमगति है ।

1- यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वं भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते । 16

2- तत्र कोमोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः । 17

ईशावास्योपनिषद् - 6, 7 .

†-----†
अध्याय- पंचम ***
-----***
†-----†

†-----†
अवधि
* शब्दार्थ और धारणा *
.....
†-----†

असुर्याः

अध्याय - पंचम

:- शब्दार्थ और धारणा

ईशापनिषद् के तीसरे मन्त्र 'असुर्या नाम ते लोका' में आये असुर्या शब्द का विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ किया है। इस शब्द की प्रयुक्ति इस मन्त्र में अत्यन्त विवादास्पद है। अपने-अपने ढंग एवं तर्कों के अनुसार सभी विद्वान इसका अर्थ करते हैं। अधिकांश विद्वान असुर्या की निष्पत्ति 'असु' शब्द से मानते हैं, तथा असुर्या का अर्थ प्राण सम्बन्धी करते हैं। दूसरी ओर कुछ विद्वान असुर्या को 'असुर' शब्द से निष्पन्न मानते हैं, और असुर्या का अर्थ असुरों के निवास वाले लोक करते हैं। इन दोनों अर्थों के अलावा कतिपय अन्य विद्वान असुर्या का तात्पर्य सूर्य शब्द के साथ जोड़कर 'अ' उपसर्ग का निष्पत्ति प्रयोग मानकर असुर्या का अर्थ 'सूर्य रहित' अर्थात् प्रकाश हीन लोक करते हैं।

परन्तु इस शब्द के साथ जुड़ा सबसे अधिक विवादास्पद पहलू है, इसके विपरीत अर्थ। असुर शब्द की व्युत्पत्ति असु (प्राण) शब्द से होने के कारण असुर का तात्पर्य प्राणों को ही सर्वस्व मानने वाला हुआ। अर्थात् इसका अर्थ राक्षस या सांसारिकता से सम्पन्न प्राणी होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है। कहीं इसका तात्पर्य राक्षसवादी अधम प्राणियों से है तो अन्यत्र कहीं देवत्व सम्पन्न देवताओं से। इसके अतिरिक्त जो कई अन्य अर्थ इस शब्द के मिलते हैं।

1- असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

ताँस्ते प्रेत्यामिगच्छन्ति ये के वात्महन्ता जनाः ॥ 3

ईशापनिषद्- 3 .

(1) प्रचलित मत की आलोचना -

भाषा-वैज्ञानिकों ने भी इसका जो अर्थ निधारित करने का प्रयास किया है, वह तार्किक नहीं है।

भाषा विज्ञान के अन्तर्गत 'अर्थ परिवर्तन' के नियमानुसार भाषाएँ, काल वक्र के साथ-साथ टूटती-फूटती रहती हैं। कुछ शब्द अपना मौलिक अथवा प्रचलित अर्थ छोड़कर किसी अन्य अर्थ के बोधक हो जाते हैं। असुर शब्द के विषय में भी भाषा-वैज्ञानिकों ने यही निष्कर्ष दिया, कि पहले असुर शब्द का अर्थ देवता था। परन्तु धीरे-धीरे यह षष्-पिटकर अपने विपरीत अर्थ राक्षस में प्रचलित हो गया। इस नियम के अनुसार तो (ऋग्वेद का द्वितीय से लेकर सातवें मण्डल तक का भाग प्राचीनतम साहित्य माना जाता है अतः) दो से सात मण्डल तक के मन्त्रों में असुर शब्द का अर्थ देवतावाची होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है।

(2) असुर का राक्षसवाची अर्थ -

ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के तीसवें सूक्त के चौथे मन्त्र में ऋषि इन्द्र देवता की स्तुति करते हुए, वीर असुर पुत्रों को अर्थात् देवताओं के शत्रुओं को मारने की प्रार्थना करता हुआ कहता है, 'कि है इन्द्र देवता। अपने वज्र से जो कि शत्रुओं को संतप्त करने वाला है, उन्हें दुःख पहुँचाने वाला है, ऐसे अपने अस्त्र से द्वारों को अवस्थ करने वाले सत्त्वर्षों को विध्वंस करने वाले वीर असुर पुत्रों का उसी प्रकार वध कर दो, जिस प्रकार तुमने अपने शत्रु वृत्र का किया था। वृत्र असुरों का ही स्वामी था। इस मन्त्र में ऋषि ने असुर शब्द का प्रयोग राक्षस के अर्थ में किया है। जो पुण्य-कर्मों के नितान्त विरोधी हैं। यदि यह मान लें कि भाषा परिवर्तन का नियम उचित है, तो फिर यही राक्षस के स्थान पर देवता अर्थ होना चाहिए।

1- बृहस्पते तपुजारबनेव विध्य वृकहरसो असुरस्यबोरान् ।

यथा जघन्यथ धूमता पुरा विदेवा जाहि शत्रुमस्माकमिन्द्र ॥

ऋग्वेद, 11. 30. 4

और यदि मन्त्र में असुर का अर्थ देवता मान ले, तो मन्त्र कल्याणकारी, स्तुति न होकर अनर्गत प्रलाप अथवा अनर्थकारी हो जायेगा । इस

(3) असुर का देवता सम्बन्धी अर्थ -

इस सूक्त से दो चार सूक्त आगे चलकर इसी मण्डल के पैतीसवें सूक्त के द्वितीय मन्त्र में असुर शब्द का प्रयोग देवता अर्थ में किया गया है । इस मन्त्र में मात्र देवता कि नहीं बल्कि देवताओं की देवत्व शक्ति जिसके कारण वे मृत्युलोक पर शासन करते हुए मनुष्यों से उच्च है, की स्तुति की गई है । ऋषि अर्षा नपाद की स्तुति करते हुए कहता है, कि हे अर्षा नपाद । जिसकी मैं स्तुति कर रहा हूँ वह देवत्व शक्ति 'असुर्यस्य महत्ता' से सम्पन्न देवता मेरे हृदय से निकले हुए इन स्तुति मन्त्रों को भली प्रकार जानें । अर्थात् मैं हृदय से उसके प्रति नतमस्तक होकर उसकी शरण में जाना चाहता हूँ । क्योंकि उसकी शक्ति से ही इन समस्त लोकों की सृष्टि हुई है । अतः मैं इस जगत् की श्रौत मात्र उस शक्ति को उपासना कर रहा हूँ । इस तथ्य को वह शक्ति सम्यक् प्रकार से जानें ।

इस प्रकार थोड़े से सूक्तों के आगे पोछे अवलोकन करने पर गह विभिन्नता अथवा विपरीत अर्थता बड़ी सुविधा के साथ दृष्टिगोचर हो जाती है । इससे पाठक के सम्मुख यह समस्या उत्पन्न होती है, कि किस स्थान पर वह असुर का तात्पर्य राक्षसवादी मानें, और किस स्थान पर देवतावादी । साथ ही यदि भाषाविज्ञानियों के मत का अनुसरण करें, तो ऋग्वेद की प्राचीनता और अवर्चीनता का निर्णय किस प्रकार करें ? क्या एक एक मन्त्र को स्थान-स्थान से चुनकर प्राचीन और अवर्चीन कहे ?

1- इमं सुस्मै हृद आ सुत्तुटं मन्त्रे बोवेम कुविदस्य वेदत् ।

अर्षा नपादसुर्यस्य महता विश्वान्ययौ भुवनाज्जान ।

ऋग्वेद् 11. 35. 2

(4) असुर्या का अर्थ 'श्रेष्ठता' :-

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य अर्थ में ऋग्वेद के हो मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं। सातवें मण्डल के क्रियान्वे सूक्त के पहले मन्त्र में ऋषि असुर्या का प्रयोग श्रेष्ठता अर्थ में भी करता है इस मन्त्र में ऋषि 'नदीनाम-असुर्या' पद से नदियों में श्रेष्ठ सरस्वती नदी की स्तुति करते हुए कहता है कि हे वशिष्ठ! तुम नदियों में श्रेष्ठ द्युलोक और भूलोक में विचरणा करने वाले सरस्वती नदी की महिमा का उत्तम स्तुति वचनों से गान करो। इस मन्त्र में असुर्या का एक बिल्कुल ही भिन्न अर्थ हमारे सम्मुख आता है। यदि इस अर्थ को दृष्टिगम्य करके 'असुर्या नाम ते लोका' मन्त्र का अर्थ करें तो उपनिषद् बड़ी विचित्र बातों का भण्डार हो जायेगा। इस अर्थ के अनुसार मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा, कि जो आत्माहमो अर्थात् आत्मा का उत्लंघन करने वाले, उसको स्वीकार न करने वाले, मनुष्य मृत्यु के उपरान्त ऐसे श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति हो जायेंगे जो कि अन्धकार स्पी अज्ञान से आच्छादित है। एक और अज्ञान स्पी अन्धकार से आच्छादित है, और दूसरी ओर श्रेष्ठ, ये दोनों बातें एक ही वस्तु के साथ असम्भव है। अब तक देखे गये दोनों अर्थों का अवलोकन तो विवादास्पद है, ही, परन्तु इसके अतिरिक्त श्री अरविन्द ने एक अन्य अर्थ को भी तर्कों से प्रमाणित करके ऋग्वेद से हो उसे परिपुष्ट किया है।

(5) श्री अरविन्द प्रतिपादित 'सूर्यरहित' अर्थ -

ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल के वत्सीसवें सूक्त के छठे मन्त्र में 'असुर्या' शब्द का अभिप्राय सूर्यरहित है। श्री अरविन्द इस मन्त्र से ही सम्भवतः अपने सूर्य रहित अभिप्राय को उत्पन्न और पुष्ट करते हैं। इस मन्त्र में इन्द्र

1- वृहद् गायित्री वचो असुर्या नदीनाम् ।

सरस्वती सुवृक्षितभिः । स्तोमैर्वशिष्ठ रोदसो ॥

ऋग्वेद, 7.96 ।

देवता की स्तुति करते हुए ऋषि कहता है कि जब बलशाली इन्द्र ने सोमपान से आनन्दित होकर अपने अबूक अस्त्र वज्र की प्रहार की कामना से ऊपर उठाकर सुखदायक जोषन स्वल्प जलों की अवस्थ करके उन पर हो शायन करने वाले तथा सूर्यरहित स्थानों पर अर्थात् अन्धकार के स्थानों पर हो वृद्धि को प्राप्त होने वाले वृद्ध को मारा । इस मन्त्र में वृद्धि को प्राप्त होने वाले कहकर वृद्ध असुर का अस्तित्व सूर्य से रहित स्थानों पर हो बताया गया है ।

तार्किक दृष्टि से देखने पर 'असूर्या' शब्द का यही अर्थ अधिक तार्किक सटीक तथा उपनिषद् को मूल भावना के अनुस्प बैठता है । इस अर्थ की तर्क संगत और व्युत्पत्ति मूलक मानने में जो अरविन्द का नाम सर्वोपरि है । ऐसा भी कहा जा सकता है, कि प्राचीन कालीन टीकाकारों की तकीर से हटकर तथा आचार्य शंकर का अन्धानुकरण करने वालों के समूह से निकल कर जो अरविन्द ने हो सर्वप्रथम 'असूर्या' का अर्थ सूर्य विहीन किया । वह शब्द को निष्पत्ति की दृष्टि से ही उत्तम अर्थ है ।

श्री अरविन्द ने अपने अर्थ की पुष्टि के सम्बन्ध में भी उचित तर्क प्रस्तुत किये हैं । वे स्वयं भी असूर्या का अर्थ 'टिटैनिक' और 'सनलेस' करते हैं । और स्वयं ही प्रथम अर्थ को अशक्त बताकर सूर्यरहित अर्थ को ही उचित बताते हैं । उनके अनुसार हमारे सम्मुख असूर्या शब्द के दो अर्थ हैं- असूर्या 'टिटैनिक' तथा असूर्या 'सनलेस' और अनडिवाइन 'तीसरा मन्त्र जो कि

1- त्वं विदित्वा कल्पयं शायानं असूर्यं तमसि बाधुधानम् ।

तं विम्वन्दानो वृक्षः सुतस्योच्चेरिद्रो अपगूर्या जगान् ॥

ऋग्वेद, 1. 32. 6 .

अन्तिम चार मन्त्रों का तथा समस्त उपनिषद् का आधार स्वल्प है, मैं असूर्या का सूर्यरहित अर्थ ही उत्तम है क्योंकि अन्तिम चार मन्त्रों में विभिन्न नामत्पों से सूर्य की ही स्तुति की गई है। अन्य उपनिषदों में भी सूर्य को प्रकाश और ज्ञान स्वल्प माना गया है, तथा इससे विहीन स्थिति को अन्धकार और अज्ञान माना गया है। '... भी अरविन्द का यह कथन अक्षरशः तार्किक प्रमाण है क्योंकि ईशापनिषद् के अन्तिम चार मन्त्रों में सूर्य देव की ही उपासना का उपदेश किया गया है। सूर्य को प्रकाश और ज्ञान का भण्डार कहा गया है। उसका देदोप्यमान तेज ही ब्रह्म को व्यक्ति को दृष्टि से ओझल करने वाला पदार्थ है।

(6) आचार्य शंकर द्वारा अभिमत अर्थ - आलोचना-

दूसरी ओर आचार्य शंकर 'असूर्यालोका' का अर्थ परमात्म ज्ञान से विहीन समस्त विश्व करते हैं। उनके अनुसार 'अद्वयपरमात्मा भाव' की अपेक्षा से समस्त जड़ जगम संसार सब कुछ असुर लोक है। एक मात्र परमात्मा ही सत् है,

- 1.- We have two readings Asurya, Sunless, Asurya, Titanic or undivine. The third verse is in the thought structure of Upanishad the ^{starting} point for the final movement in the last four verses. Its suggestions are there taken up and worked out. The prayer to sun refers back in thought to the Sunless Worlds and their blind gloom which are recalled in the ninth and twelfth verses the sun and his rays are intimately connected in other Upanishads also with the worlds of light and their natural opposite is the dark and sunless, not titanic worlds. "

*The Upanishads

Sri Aurobindo. P.64

वही प्रकाश स्वल्प है । शीघ्र सब असत् है, माया का परिणाम है । अतः मृत्युलोक से लेकर ब्रह्मलोक तक के सभी लोक असुर लोक है¹ । वे असूर्या का अर्थ करते समय शब्द को मौलिकता को महत्वहीन कर देते हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार तो असूर्या का अर्थ परमात्मभाव का अभाव नहीं है । वे अपने सिद्धान्त पर चलते हुए ही इसका अर्थ करते हैं । शब्द की व्युत्पत्ति से सम्भवतः उनका कोई प्रयोजन नहीं ।

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में अनन्दा नाम ते लोका² आये मन्त्र का अर्थ वे बिल्कुल इसी मन्त्र के समान करते हैं । उनके अनुसार अविद्यान पुरुष (मनुष्य) आत्मा से अनभिज्ञ होने के कारण मृत्यु के उपरान्त अनानन्द लोको ही प्राप्त होते हैं । उनकी दृष्टि से एक मात्र आनन्दावस्था ब्रह्म-प्राप्ति की अवस्था है । ब्रह्मप्राप्ति के अभाव की सभी स्थितियाँ अनानन्द की स्थितियाँ हैं । और परमात्म भाव से होन होने के कारण सभी लोक मृत्युलोक से ब्रह्मलोक तक अनानन्द लोक है । अतः यह स्पष्ट है कि आचार्य शंकर की दृष्टि में एक मात्र ब्रह्म ही असूर्या से शून्य आनन्द स्वरूप है उसके अभाव से सम्पन्न सब कुछ अनानन्द है ।

1- असूर्याः परमात्मभावद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यासुराः तेषाञ्च

स्वभूता लोकाः असूर्यानाम् ।

ईशोपनिषद्, 3, शंकर भाष्य ।

2- अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

ताँस्ते प्रेत्यभिगच्छन्त्यविहङ्गासो अबुधोजनाः ।।

बृहदारण्यकोपनिषद्, 4-4-11 ।

देवताओं के लोकों को भी वे असूर्य लोक तथा देवताओं को असुर कहते हैं। और आगे इसी उपनिषद् में तथा पोछे द्वितीय मन्त्र को इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि उस पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उपनिषद् का प्रयोजन अग्निहोत्रादि यज्ञ करके देवलोक को प्राप्ति हो ही। क्योंकि कई मन्त्रों की व्याख्या में उन्होंने अग्निहोत्रादि कर्म करने की उपदेश दिया है। जब देवलोक से मृत्युलोक तक सभी कुछ असुरलोक है, तो अग्निहोत्रादि यज्ञ विधान तथा देवलोक को प्राप्ति से क्या प्रयोजन? परमात्मा का जितना अभाव मृत्युलोक में होता है, उतना ही देवलोक में भी। जब दोनों में ही निवास करना असुरत्व है तो यज्ञ विधि के कष्ट सहन करने की कोई आवश्यकता होती ही नहीं। असुरत्व तो प्राणि मात्र की सर्वाधिक अधम अवस्था है। फिर चाहे वह देवता ही अथवा (हत्यारा) हन्ता, उसमें तो कोई भेद नहीं।

(7) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा -

राधाकृष्णन भी असूर्या का अर्थ राक्षस सम्बन्धित तथा सूर्य रहित करते हैं। उनके अनुसार आत्मा के अस्तित्व को न पहचाने वाले 'आत्महन्ता' मृत्यु के उपरान्त सूर्य रहित लोकों को प्राप्त होते हैं, जो कि अज्ञान स्पी अधिकार से आच्छादित हैं। इस प्रकार तार्किक दृष्टिकोण से सूर्य रहित ही अर्थ अधिक प्रबल है।

वैसे भी लोक व्यवहार में अज्ञान का प्रतीक अधिकार ही माना जाता है। और ज्ञान का प्रकाश। अतः असूर्य, ज्ञान स्पी प्रकाश से रहित; और सूर्य ज्ञान स्पी प्रकाश से युक्त। यद्यपि आचार्य शंकर द्वारा किये गये अर्थ का व्यापक तात्पर्य भी वही अज्ञान लोकों से है, परन्तु व्यापक तात्पर्य के साथ-साथ शब्द के व्युत्पत्ति मूलक अर्थ का ज्ञान होना भी आवश्यक है। उसके विस्तृत अर्थ पर उसके अर्थ की झलक अवश्य होनी चाहिए। अन्यथा किसी भी स्थान पर अपनी सुविधा के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व एक ही शब्द के अनेक अर्थ लगा लेंगे, जिससे व्युत्पत्ति का नियम तो निरर्थक होगा ही, साथ ही साहित्य में एक बहुत-बहुत अवस्था उत्पन्न हो जायेगी। ठीक यही बात असूर्या का

जो अर्थ आचार्य शंकर करते हैं, उसके साथ है। उनके अनुसार ब्रह्म से ही न सब कुछ असूर्य लोक है, इससे उपनिषद् की व्यवस्था में भी व्यवधान होता है क्योंकि अन्यत्र अन्य मन्त्रों में इस समस्त विश्व को असूर्यलोक अथवा राक्षसों का निवास स्थान नहीं कहा गया। बल्कि सर्वत्र इस लोक में रहकर अपने आग्रह सम्मत कर्मों का सम्पादन करते हुए, ब्रह्म प्राप्ति का उपदेश किया गया है। ब्रह्म ज्ञान की स्थिति इस लोक में अपने कर्मों का पालन करते हुए ही प्राप्त की जा सकती है। यदि समस्त लोक अधम असूर्य लोक ही है तो जो वन्मुक्त होकर भी तो जनक सरोखे मुनि इसी संसार में अपने कर्तव्यों का निर्वहण करते थे। क्या उनके लिए भी यह लोक असूर्य लोक है? कदापि नहीं। कोई भी स्थान व्यक्ति की मानसिक स्थिति के अनुसार अधम या उत्तम होता है। उत्तम कार्य करने वाले के लिए संसार उत्तम लोक है, और निकृष्टों के निकृष्ट।

आचार्य शंकर द्वारा किया गया अर्थ श्रुतिपूर्ण नहीं, बल्कि शाब्द की व्युत्पत्ति को महत्वहीन करने के कारण एक पक्षीय है।

साथ ही अन्य मन्त्रों की व्याख्या में उन्होंने के द्वारा कहे गये, तप्यों को परिपुष्ट करने के विपरीत उन्हें काटता है। द्वितीय मन्त्र² की व्याख्या

1- But these are all words and dreams, since Hell and Patala and Earth and Paradise and Heaven are all in Jivatma itself and not outside it.

The Upanishads-

Sri Aurobindo

P.467.

2- कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजो विभेच्छतं समाः ।

एवं त्वमि नान्यथेती-स्ति न कर्मलिप्यते नरे ॥ 2

ईशावास्योपनिषद्- 2

में आचार्य शंकर मनुष्य को अग्निहोत्रादि कर्म करने का उपदेश देते हैं । जिससे मनुष्य कर्मबंधन के जाल में नहीं पड़ता है । यही शायद व्यक्ति को जीवन्मुक्ति की स्थिति है । जो कि मानव जीवन का परम लक्ष्य है । परमानन्द की प्राप्ति है । ब्रह्म में एकीभूत होने की स्थिति है । जब सब कुछ परमानन्द भाव से शून्य है, एक मात्र ब्रह्म की छोड़कर । फिर जीवन्मुक्ति अथवा विदेह-मुक्ति जैसी तो कोई व्यवस्था हो नहीं बनती है । क्योंकि आचार्य शंकर को दृष्टि में सभी लोक मात्र ब्रह्म की छोड़कर असुर लोक हैं । तो फिर वहाँ ब्रह्मप्राप्ति अथवा ब्रह्मत्व का भाव कैसे हो सकता है ? जबकि उपनिषद् के अनुसार यही इसी संसार में मृत्युलोक में अन्य अज्ञानी साधारणों की भाँति जीवन बिताने वाला व्यक्ति भी परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्म हो सकता है ।

दूसरे ग्यारहवें मन्त्र की (अविद्या मृत्युतो त्वा विद्या अमृतमश्नुते) व्याख्या में वे स्वयं कहते हैं कि देवता ज्ञान विद्या से अमृत यानी देवात्म भाव की प्राप्ति हो जाता है ।

१- अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना मृत्यु स्वाभाविकं कर्मज्ञानं च मृत्युस्तदवस्थाच्युभयं तो त्वा अतिक्रम्य विद्यया देवता-ज्ञानेनामृत देवात्मभावमश्नुते प्राप्नोति । तद्धयमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम् ।

ईशावास्योपनिषद् - ॥ शंकर भाष्य ।

जब नरक स्वर्ग आदि सभी लोक असुर लोक है, तो फिर किस अमृत की प्राप्ति के लिए वे मनुष्य को प्रेरित करते हैं ? कि देव-ता ज्ञान से देवात्मभाव अमृत को प्राप्ति होता है । क्योंकि परमात्मा का तो जितना अभाव ब्रह्म-लोक में है, देव लोक में है, उतना ही इस कर्म लोक संसार में है, तो फिर किस प्रणोजन वशा वे अमृत को बात करते हैं ? जब सब कुछ असुर लोक हो है, तो पूजा, उपासना, स्तुति इत्यादि को तो कोई व्यवस्था ही नहीं बनती । दूसरी ओर स्थान-स्थान पर वे अग्निहोत्रादि यज्ञ कर्म करने को बात करते हैं । जब अपुरत्व को स्थिति का उद्धार भी असुरत्व हो है तब निरर्थक परिश्रम यज्ञादि में क्यों किया जाये ?

उपनिषद् के मूल भाव के अनुसार संसार मिथ्या अथवा भ्रम मात्र नहीं है । अपितु ईश + अथास्यम्, ईश्वर का निवास स्थान है । ब्रह्म की कर्म रूप अभिव्यक्ति है । उसके अस्तित्व को न तो नकारा जा सकता है । न उसे असुरलोक अथवा परमात्मा का अभाव लोक कहा जा सकता है । क्योंकि जीवन्मुक्त पुत्र भी तो इसी संसार में रहकर ब्रह्मलीन हो जाते हैं । तथा देहपात होने तक इसी संसार में जीवन व्यतीत करता है । फिर भला इसे असुरलोक कैसे कहा जा सकता है ? लोका का तात्पर्य सम्भवतः यहाँ योनियों से है । कर्मफल के अनुसार योनियाँ ही निकृष्ट और उत्कृष्ट होती हैं ।

श्री अरविन्द लोक का तात्पर्य जीवात्मा को स्थिति मानते हैं । उनके अनुसार जीवात्मा जिस प्रकार के भाव लेकर सत् रज् तम् की स्थिति में रहती है उसी को उसका विभिन्न लोकों में निवास माना जाता है ।

अतः स्वर्ग नरकादि व्यवस्थाएँ कहीं अन्यत्र नहीं बल्कि इसी विश्व में जीवात्मा में विद्यमान रहते हैं ।

1- A world is not a place with hills and trees and stones but, a condition of Jivatman.

निकर्षितः यह कहा जा सकता है कि असूर्या का अर्थ चाहे सूर्य रहित करें, या अज्ञान से आच्छादित, राक्षसी प्रवृत्तियों का निवास स्थल, अथवा परमात्मभाव से शून्य करें। अन्ततोगत्वा सब का मूल भाव यही है, जो व्यक्ति आत्मा का हनन करते हैं, अर्थात् आत्मा के स्वल्प को नहीं पहचान पाते, उनकी अधोगति होती है। क्योंकि आत्मा को पहचानने वाला व्यक्ति सासारिक विकारों से परे होकर सर्व भूत हित में रत रहता है। अतः उसके कर्म भी पुण्यशाली होते हैं। और अन्त में उसकी सद्गति, मोक्ष होती है।

परन्तु आसुरी प्रवृत्तियों से आक्रान्त मनुष्य सासारिक मोह जाल में पड़े, निकृष्ट कर्तव्यों को करते हुए, अपने को नहीं पहचान पाते और निरन्तर अधम कार्य करते रहते हैं। वे अपने कर्तव्यों के भोग स्वल्प उन लोकों को प्राप्त हो जाते हैं, जहाँ अज्ञान का अधिकार छाया रहता है। और व्यक्ति फिर कभी ज्ञान की ओर अग्रसर नहीं होता। निरन्तर कर्म फल के झमेले में पड़ा हुआ जन्म मृत्यु के बीच घृणित योनियों में भटकता रहता है।

अतः सूर्य स्पी ज्ञान के प्रकाश से होन लोक आत्मा के ज्ञान से शून्य मनुष्यों को प्राप्त होते हैं। क्योंकि योनिया सासारिकता की प्रतीक हैं। ब्रह्मप्राप्ति ही एकमात्र वह स्थिति है, जहाँ और कुछ नहीं, मात्र सत् सत्त्व चित् प्रकाश और आनन्द की स्थिति है। यही मनुष्य की परम गति है।

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

- | | |
|---|--|
| ईशावास्योपनिषद्-शांकर | - गीता प्रेस, गोरखपुर |
| भाष्य सहित | - पन्द्रहवीं संस्करण |
| ईशादि नौ उपनिषद् | - हरिकृष्णदास गौतम का
गीताप्रेस, गोरखपुर, नवीं संस्करण |
| ईशादयष्टत्तरशातौपनिषद् | - बाबू शिवप्रसाद राजाराम, सर्व हितैषी
कम्पनी, काशी, 1938 |
| ईशाोपनिषद् आत्मज्ञान | - श्री पाददामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल
(पारङ्गी) सतारा |
| उपनिषद्वाक्यकौश | - मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1963 |
| उपनिषदुद्धारकौश | - विश्वबन्धु, होशियारपुर, 1972 |
| ऋग्वेद संहिता भाग-4 | - रफो मैक्समूलर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस
विद्याविलास प्रेस, वाराणसी, 1966 |
| ऋग्वेद का सुबोध भाष्य-भाग-4 | - श्री पाद-दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल
पारङ्गी जि० बलसाड गुजरात 1978 . |
| एतरेयोपनिषद् | - गीताप्रेस, गोरखपुर - आठवीं संस्करण |
| कठोपनिषद् | - गीताप्रेस, गोरखपुर, पन्द्रहवीं संस्करण सवत्,
2032. |
| केनोपनिषद् | - गीताप्रेस, गोरखपुर, बारहवीं संस्करण, सवत् 2033 |
| ब्राह्मदोग्योपनिषद्
(शांकरभाष्य सहित) | - गीता प्रेस, गोरखपुर, सवत् 2021. |
| तर्कभाषा | - आचार्य विश्वेश्वर, चौखम्बा सीरीज, आफिस,
वाराणसी, 1971. |
| तैत्तिरीयोपनिषद् | - गीताप्रेस, गोरखपुर, ग्यारहवीं संस्करण सवत् 2033 |
| न्यायसिद्धांतमुक्तावली | - गजाननशास्त्री मुसलगावकर, चौखम्बा, सुरभारती,
प्रकाशन, वाराणसी, 1978 |
| पातंजलयोगसूत्राणि | - हरिनारायण आप्टे, आनन्दानन्द मुद्रणालय,
पूना, 1919 |
| (ठ्यास भाष्य एवं वाचस्पति
मिश्र कृत टीका) | |

प्रश्नोपनिषद्	- गीता प्रेस, गोरखपुर, दशम संस्करण संवत् 2024
प्राचीन भारतीय संस्कृति	- डॉ. एन. सुनिया, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा 1972
बृहदारण्यकोपनिषद् (केवल संस्कृत)	- काशीनाथ शास्त्री आगारौ, ग्रन्थांक 15 आनन्दप्रम संस्कृत ग्रन्थावलि :
बृहदारण्यकोपनिषद् (हिन्दी अनुवाद, शांकरभाष्य) - संवत् 2025	- गीता प्रेस, गोरखपुर .
ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य)	- पाण्डुरंग जावाजी, निर्णय
भामती, कल्पतरु परिमल सहित-	- सागर प्रेस, बम्बई, 1938
भगवद्गीता (शांकरभाष्य)	- श्री हरिकृष्णदास गोयदका गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2032.
भारतीय दर्शन भाग 1-2	- डा० एस० राधाकृष्णन् राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1969
भारतीय दर्शन	- बलदेव उपाध्याय, शारदामंदिर काशी
माण्डूक्योपनिषद्	- गीताप्रेस, गोरखपुर, ग्यारहवां संस्करण
मुण्डकोपनिषद्	- गीताप्रेस, गोरखपुर, बारहवां संस्करण संवत् 2032.
विवेक-वृद्धामणि	- मुनिलाल, गीताप्रेस, गोरखपुर, छठा संस्करण)
वेदान्तसार	- धर्मराजाध्वीरीन्द्र, रामकृष्णमिश्रान शाखा पीठ, बैतुरमठ, हावड़ा .
वेदान्तसार	- बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली 1978
वेदान्तसार	- विमल प्रकाशन गाजियाबाद, 1978 .
वैदिक पदानुक्रमकोश	- विश्वबन्धु शास्त्री, शान्ता कुटो, वैदिक ग्रन्थमाला, लाहौर, 1936
वाजसनेयि संहिता (माध्यन्दिनशाखा)	- जीवानन्द विद्यासागर .

श्वेताश्वतरोपनिषद्

सर्वदर्शन- संग्रह

संस्कृत हिन्दी कोश

सांख्यतत्त्वकौमुदी

'' प्रभा ''

सांख्यकारिका

(गौडपादभाष्य सहित)

- गोताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2033

- उमाशंकर ऋषि, द्वितीय संस्करण, बनारस

- वामन शिवराम आष्टे, मौतोलात बनारसीदास,
1973 दिल्ली

- प्रो० आषा प्रसाद मिश्र

प्रेम प्रकाशन, इलाहाबाद, 1969

- कान्तानाथ शास्त्री लैलंग, काशी
संवत् 2010

List of Reference Books

1. A concordance to the Principal Upanishades and Bhagvad Gita- C.A. Jacob, Pub. Year 1913, Delhi.
2. A constructive survey of Upanishads Ranade, Pub. Year 1968, Bhartiya Vidya Bhawan Chowpatty, Bombay.
3. Bhagavad Gita As it is - A.C. Bhaktivedanta Swami Prabhupāda, Pub. year 1968-72, Bombay.
4. English Sanskrit Dictionary M. Monier Williams, Pub. year 1857 Moti Lal Banarsi Das, Delhi.
5. History of Indian Philosophy- Belvalkar and Ranade, Pub. Year 1927, Bilvknj, Publishing House, Poona.
6. History of Sanskrit Literature Keith- Pub. year 1928, Oxford.
7. History of Sanskrit Literature Dasgupt and S.K. De, Pub. year- 1947, Calcutta.
8. Īt̐opanīṣad - Swamī Swāmī Gambhīrānanda, Sec. Ed. 1983 Advaitashram Calcutta.
9. Indian Philosophy Dr. S. Radhakrishnan. Sec. Ed. Vol. 2 Muirhead Library of Philosophy Ruskin House, London.
10. Kena-Upainīṣad Swāmī Gambhīrānand, Sec. Ed. 1981 Advaitashram, Calcutta
11. Katha Upanīṣad Swāmī Gambhīrānand, First Ed. 1980 Advaitashram, Calcutta.

- | | |
|---|--|
| 12. <u>Mundaka Upaniṣad</u> | Swāmī Gambhīrānand, First Ed. 1978,
Calcutta. |
| 13. The upanishads | Sri Aurobindo, Vol-12 First Ed. 1971.
Sri Aurobindo Ashram Pondicherry. |
| 14. The Upanishads | Sri Aurobindo, Vol-12, Sec. Ed. 1981.
Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry. |
| 15. The Principal upanishads | Dr. S. Radhakrishnan, First Ed. 1953,
The Muirhead Library of Philosophy
Ruskin House, London. |
| 16. The Upanishads | F. Max Muller, Sacred Books of the East,
Pub. Year 1965, Moti Lal Banarsi Das,
Delhi. |
| 17. The Upanishads | A. B. Keith, Harvard Oriental Series,
Cambridge. |
| 18. The Upanishads | E. Roer, Pub. Year 1978, Delhi. |
| 19. The Principal upanishads | Paul Dussen, New York. |
| 20. Ten classical upanishads
(Isha and Kena) | Gajendragadkar First Ed. 1981, Vol 1,
Bombay. |
| 21. Taittirīya upanīṣad | Swāmī Gambhīrānand, First Ed. 1980
Advait Ashram, Calcutta. |